

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 53 (अप्रैल-जून 2017) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 7888048765, 09422386554, ईमेल- bahuvaachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : रु. 75/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक	
शिक्षा के लिए बेटियों की जंग	04
वैचारिकी	
विनोबा का साम्ययोग/ <i>नंदकिशोर आचार्य</i>	07
वैश्वीकरण में भाषा का बदलता स्वरूप/ <i>कमल कुमार</i>	13
भ्रष्ट हो रही है हमारी भाषा/ <i>नवनीत मिश्र</i>	18
स्मरण	
धर्मवीर : अलग सोचने का साहस/ <i>अरुण कुमार त्रिपाठी</i>	24
डायरी	
आत्म की सघन पहचान और परछाइयां/ <i>राजकुमार गौतम</i>	30
यात्रावृत्त	
ईमा बाजार यात्रा के देखे-सुने कुछ दृश्य, कुछ अनुभव/ <i>प्रेम कुमार</i>	36
'कर्मवीर' की कर्मभूमि -खंडवा/ <i>उर्मिला शुक्ल</i>	43
कहानी	
पहुना/ <i>स्वप्निल श्रीवास्तव</i>	51
चश्मा/ <i>वंदना शुक्ल</i>	57
कविता	
सतीश जायसवाल	70
कुमार मुकुल	74
कुमार विक्रम	78
निशांत	82
प्रसंगवश	
उपन्यासकार अमृतलाल नागर पत्रों में/ <i>विजय शर्मा</i>	85
संगीत	
कुमार गंधर्व के बहाने/ <i>अप्रमेय मिश्र</i>	93
अनुवाद	
जेंडर, अनुवाद और निष्ठा (फिडिलिटी) पर पुनः विचार/ <i>ज्योति चावला</i>	97
शोध	
गुरुमुखी लिपि में रचित राम काव्य की प्रामाणिकता/ <i>हरदीप सिंह</i>	105
आलोचना	
नवजागरण और स्त्री कविता/ <i>गरिमा श्रीवास्तव</i>	119
विडंबना का विद्रूप : हरिशंकर परसाई की कहानियां/ <i>पल्लव</i>	127
मुक्तिबोध की कविता का अंतर्द्वंद्व/ <i>एम. श्याम राव</i>	134
प्रसाद का कथाशिल्प : एक पुनर्विचार/ <i>उषा शर्मा</i>	147
हिंदी कहानी : एक अंतर्यात्रा/ <i>वृजेन्द्र कुमार अग्निहोत्री</i>	160

शिक्षा के लिए बेटियों की जंग

इस बार आरंभिक की शुरुआत हरियाणा प्रांत की एक घटना से जिसने सुर्खियां बनकर पूरे देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। यह घटना थी हरियाणा स्थित रेवाड़ी जिले के गांव गोठड़ा टप्पा डहीना की जहां छेड़छाड़ की घटना से त्रस्त हो स्कूल को अपग्रेड करने की मांग को लेकर छात्राएं सत्याग्रह पर बैठ गईं। देखते ही देखते यह खबर मीडिया में सुर्खियां बनकर छा गई। करीब आठ दिनों की जंग के बाद सरकार का ध्यान इस सत्याग्रह की ओर गया फिर उसने इन छात्राओं की मांग मान ली। यह घटना साफ दर्शाती है कि हरियाणा की बेटियों में शिक्षा हासिल करने की अभिलाषा उनकी जिद और जूनून बन चुकी है। ये छात्राएं अपना लक्ष्य हासिल कर समाज में प्रतिष्ठाजनक स्थान पाना चाहती हैं। सत्याग्रह कर रही इन छात्राओं ने वक्तव्य दिया कि- 'वे शिक्षा के प्रति गंभीर हैं। वे पढ़- लिखकर आगे बढ़ना चाहती हैं लेकिन इज्जत दांव पर लगाकर नहीं। दूसरे गांव के स्कूल में पढ़ने के लिए जाते समय रास्ते में उनके साथ लड़के छेड़छाड़ करते हैं जो कि उनको कतई बर्दाश्त नहीं है।' इस घटना से जाहिर होता है कि हमारे समाज में और विशेषकर छात्राओं में शिक्षा के प्रति दिलचस्पी पिछले कुछ बरसों से उत्तरोत्तर रूप से बढ़ रही है। जाहिर है कि जब हमारे समाज में स्त्री शिक्षा का प्रतिशत बढ़ेगा तो आने वाली पीढ़ियां और अधिक शिक्षित तथा जागरूक होंगी जिससे एक नया समाज बनकर रहेगा। दरअसल हरियाणा अतीत में एक ऐसा प्रदेश रहा है जहां की जनसंख्या में बालिकाओं का प्रतिशत पुरुषों के मुकाबले घटकर न्यूनतम स्तर पर पहुंच गया था लेकिन अब इसमें लगातार सुधार हो रहा है। यही वजह है कि एक लंबे समय तक जिन बालिकाओं को शिक्षा से महरूम रखा गया उनके भीतर देश दुनिया के हालात देख- सुनकर कुछ कर गुजरने का जज्बा हिलोरे मार रहा है। यही वजह है कि शिक्षा के प्रति दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ सिर्फ हरियाणा ही नहीं बल्कि अन्य प्रदेशों मसलन उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार, झारखंड सहित कई राज्यों में बालिकाएं आगे आ रही हैं। हम कह सकते हैं कि वे आसमान छूना चाहती हैं और छूने भी लगी हैं यह समाज के लिए किसी शुभ लक्षण से कम नहीं कहा जा सकता है। यह शिक्षा की ही देन है कि आज हर परीक्षा परिणाम में बालिकाएं सबसे आगे हैं। यही नहीं आज वे नौकरी के क्षेत्र मसलन- बैंकिंग, व्यापार, शिक्षा, वकालत, मीडिया, सेना, प्रशासन, राजनीति, अभिनय, खेल सहित लगभग सभी क्षेत्रों में न सिर्फ पुरुषों के साथ कामकाज कर रही हैं बल्कि सफलता के नित नए कीर्तिमान भी स्थापित कर रही हैं। बालिकाओं की शिक्षा के प्रति बढ़ती यह उत्कट इच्छाशक्ति इस बात की द्योतक है कि परिवर्तन की यह आंधी अभी रुकने वाली नहीं है।

आज कला, साहित्य, संस्कृति का परिसर लगातार सिकुड़ता जा रहा है। यह अकारण एक दो दिन में हुआ हो ऐसा नहीं लगता है। इसका बिगड़ना तो बाजारवाद के पांव पसारने के साथ ही शुरू हो चुका था। बाजारवाद का असर अखबारों पर कुछ इस तरह हुआ कि वहां से रविवार को साहित्य संस्कृति पर केंद्रित पन्नों को धीरे-धीरे खत्म किए जाने की शुरुआत हुई और उसके स्थान पर नए किस्म के फीचर पन्ने मसलन-क्रिकेट, सिनेमा-टीवी, नए उत्पाद, स्वास्थ्य, करिअर, अध्यात्म व महिलाओं-बच्चों के लिए परिधान से लेकर बाड़ी लैंग्वेज तथा नए पकवान कैसे बनाएं जैसी जानकारी देने वाले पेज प्रमुखता से प्रकाशित किए जाने लगे हैं। जाहिर है कि यह परिवर्तन 1991 के बाद भारत में उदारीकरण की नीतियां लागू किए जाने के कुछ बरसों के भीतर ही दिखना शुरू हुआ। वर्तमान में हालात यहां तक आ पहुंचे हैं कि दिल्ली से प्रकाशित हिंदी का 'जनसत्ता' जैसा प्रमुख अखबार जिसकी पहचान ही बुद्धिजीवियों के अखबार के रूप में थी वहां भी धीरे-धीरे बदलाव की बयार बह रही है। अभी जनसत्ता से साहित्य, संस्कृति की लगभग पूरी तरह से विदाई तो नहीं हुई है लेकिन धीरे-धीरे लेखादि में कटौती कर सीमा को न्यूनतम स्तर पर लाया जा रहा है। वह भी एक समय था कि जब इस दैनिक का आगाज वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी के नेतृत्व में हुआ था और इस अखबार ने समाचार प्रस्तुति में एक नयी भाषा के इस्तेमाल और साहित्य, संस्कृति में नयी बहसें चलाकर हिंदी के पाठकों का मन मोह लिया था। आज हिंदी के अखबारों में हालात यहां तक बदतर हो चले हैं कि हिंदी साहित्य की उत्कृष्ट पुस्तकों की समीक्षा तक प्रकाशित होना बंद हो चुकी है या फिर खानापूती के नाम पर सौ दो सौ शब्दों में निपटा दी जाती है। मालिकान मुनाफा कमाने के चक्कर में पाठकों के प्रति भी किसी किस्म की सामाजिक जिम्मेदारी है इसे पूरी तरह से भूलकर बाजार की गुलामी करने में लगे हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि आज के अखबार पाठकों की रुचि परिष्कृत करने के स्थान पर बिगाड़ रहे हैं। शायद यही वजह है कि आज का पाठक साहित्य के परिसर से दूर हटता दिख रहा है क्योंकि जिन माध्यमों पर यह महती जिम्मेदारी निभाने का दायित्व था वे इससे किनाराकशी कर चुके हैं। हालांकि ऐसे विपरीत माहौल में भी यह काम साहित्यिक लघु पत्रिकाओं के द्वारा किया जा रहा है लेकिन उनके सीमित प्रसार और पहुंच के कारण व्यापक जन समुदाय तक साहित्य की पहुंच नहीं हो पा रही है। आज जरूरत इस बात की है कि पाठकों को भी इस संबंध में अपनी आवाज पत्र पत्रिकाओं के जरिए उठानी चाहिए और बदलाव की कमान अपने हाथ में रखनी चाहिए।

यदि देखा जाए तो आश्चर्य का विषय है कि यह काम केवल हिंदी भाषा में हो रहा है जबकि अन्य भारतीय भाषाओं में स्थिति इसके बिलकुल उलट है। आज भी मराठी, बांग्ला, मलयालम भाषा में उनके लेखकों की नयी कृति बाजार में आते ही उसका स्वागत किया जाता है और वहां के समाज में लेखक की प्रतिष्ठा आज भी बरकरार है। ऐसे में फिर यह सवाल है कि हिंदीभाषियों की अच्छी-खासी संख्या होते हुए भी हिंदी साहित्य और उसके लेखक को वह प्रतिष्ठा क्यों नहीं हासिल हो रही है जिसका वह सच्चा हकदार है? साहित्यिक संस्थाओं और लेखक संगठनों को इस दिशा में नए सिरे से सोचने और काम करने की जरूरत है।

बहुवचन के इस नए अंक में हम पाठकों के लिए काफी कुछ सामग्री ऐसी प्रस्तुत कर रहे हैं

जिसके माध्यम से हमारी आज की रचनाशीलता की ध्वनियां और चिंताएं साफ-साफ नजर आती हैं। हिंदी भाषा की चिंताओं पर क्रमशः कमल कुमार और नवनीत मिश्र के लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। दोनों ही लेखों के लेखक संयोगवश कथाकार हैं। पिछले दिनों दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर का निधन हुआ था उन्हें स्मरण करते हुए उन पर बहुवचन के लिए लिखा गया अरुण कुमार त्रिपाठी का स्मरण लेख प्रकाशित किया जा रहा है।

अन्य सामग्री में आज के साहित्यिक परिदृश्य में सृजनरत रचनाकारों द्वारा लिखी कहानी, कविता, डायरी, यात्रा वृत्तांत, शोध लेख, आलोचना, संगीत विषय पर लेख आदि शामिल हैं। अंक से संबंधित प्रतिक्रियाओं और सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

अरुण कुमार

विनोबा का साम्ययोग

नंदकिशोर आचार्य

सन्त कोटि में मान लिए जाने के कारण, सामान्यतः, विनोबा के एक मौलिक विचारक रूप की अकसर उपेक्षा-सी हो जाती है- खासतौर पर सर्वोदय जमात के बाहर के अध्येताओं में। वह स्वयं भी तो अपने को 'बाबा' कहकर ही संबोधित करते हैं। उनके प्रचुर लेखन का एक बड़ा हिस्सा भी धर्मग्रंथों के अनुवाद और व्याख्याओं से संबंधित है- विनोबा-साहित्य के बीस खंडों में से ग्यारह खंड। इसलिए, यह भाव और गहरा हो जाता है। लेकिन, इन धार्मिक व्याख्याओं में भी उनकी मौलिकता अकसर अलक्षित ही रह जाती है।

विनोबा को निश्चय ही एक अध्यात्मवादी विचारक कहा जा सकता है, लेकिन ऐसा अध्यात्मवादी जो, सामान्य अर्थों में, धर्ममुक्त है। प्रत्येक धर्म सत्य को अंतिम रूप से जान लेने का दावा करता है, जबकि एक विचारक के रूप में विनोबा की मान्यता है कि सत्य को कभी पूर्ण और अंतिम रूप से जाना ही नहीं जा सकता। इसीलिए, यह विज्ञान और अध्यात्म की एक समानता की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं और यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि जैसे विज्ञान का तात्पर्य तकनीकी नहीं है, उसी तरह अध्यात्म का अर्थ धर्मपंथ नहीं है। जिस तरह विज्ञान में कुछ भी अंतिम नहीं है, उसी तरह अध्यात्म या आत्मज्ञान में भी कुछ अंतिम नहीं है। वह स्पष्ट कहते हैं : 'आज तक जो अध्यात्म-विद्या हमारे हाथ लगी वह तो अंश मात्र है। इसलिए, पुराने लोगों ने जो लिख रखा है, उसे ही बार-बार पढ़ना और उसकी कथाएं विभिन्न ढंगों से गाते रहना ठीक नहीं। जिसमें नए-नए शोध नहीं हुआ करते, वह विद्या कुंठित हो जाती है। अध्यात्म के विषय में हमारे देश में यही हुआ।' वैयक्तिक मुक्ति का विचार, विनोबा के लिए, आध्यात्मिक व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद है; इसलिए, वह 'सामूहिक साधना' और 'सामाजिक समाधि' का प्रस्ताव करते हैं और मानते हैं कि आज विज्ञान का विकास भी इसी ओर संकेत कर रहा है। विज्ञान और अध्यात्म में एक समानता यह भी है कि दोनों व्यक्ति-मन को गौण और सृष्टि को केंद्रीय मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'विज्ञान-युग में व्यक्तिगत या सामाजिक मन का विचार नहीं होगा। उसमें मन का छेद (नाश) हो जाएगा। लोग अगर मन की भूमिका में सोचते रहेंगे तो मन के साथ मन की टक्कर होगी और अन्योन्य विरोध रहेगा, फिर वह मन चाहे जाति का हो, भाषा का हो, उपासना-पंथों का हो, धर्म का हो या राष्ट्र का हो। जब तक हम मन की भूमिका से ऊपर नहीं उठेंगे, तब तक विज्ञान के लायक नहीं बन सकेंगे।' शायद यही कारण है कि धार्मिक ग्रंथों की अपनी व्याख्या में भी उनका ध्यान सभी धर्मों की

बुनियादी एकता की ओर जाता है- और वह बुनियादी एकता उस आध्यात्मिकता का विकास है, जो, विनोबा की परिभाषा के अनुसार, पूरे ब्रह्मांड को अपने में पहचानने की साधना है। इसीलिए मुक्ति का अर्थ, उनके लिए, अपने को मिटाकर समाज रूप और विश्व रूप बनना है। इसे ही विनोबा 'परम साम्य का आविष्कार' कहते हैं, जिसे हमें आविष्कृत करना है और यह सामाजिक-आर्थिक एवं मानसिक स्तर पर साम्य की साधना के माध्यम से ही हो सकता है। विनोबा को, सामान्यतः सर्वोदय के दार्शनिक के तौर पर देखा जाता है, जो वह हैं भी, लेकिन वह स्वयं अपनी विचारणा को 'साम्य योग' कहना पसंद करते हैं और सर्वोदय को उसके सामाजिक-आर्थिक आयाम के रूप में रखते हैं। वह कहते हैं : 'मेरी विचारधारा के मुख्य चार अंग हैं। एक है उद्देश्य, जिसे मैंने नाम दिया है साम्ययोग। दूसरा है तत्व ज्ञान। तत्व ज्ञान में मैं समन्वय चाहता हूँ। तीसरा है सामाजिक और आर्थिक ध्येय। वह है सर्वोदय। और उसे असल में लाने की जो पद्धति है, वह है सत्याग्रह।'

विनोबा की तत्व-मीमांसा भौतिकवाद और प्रत्ययवाद, विज्ञान और अध्यात्म, व्यक्ति और समाज, व्यावहारिक और पारमार्थिक आदि कोटियों में, सामान्यतः, स्वीकृत विरोधाभासों को दूर करने और उनमें अंतर्निहित समन्वय-सूत्र की तलाश करने का उपक्रम है। विनोबा के तत्व-दर्शन को उनके द्वारा प्रतिपादित 'आध्यात्मिक पंचनिष्ठा' की व्याख्या के आधार पर समझा जा सकता है। ये पंच-निष्ठाएं हैं :

1. निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा
2. प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता
3. मृत्यु के बाद भी जीवन की अखंडता
4. कर्म-विपाकम् और
5. विश्व में व्यवस्था है, बुद्धि है, अर्थात् संविधानम्

यदि यह विश्व एक नियमशासित प्रक्रिया है, जो विनोबा के अनुसार भी है, तो सभी मूल्यों का आधार उस व्यवस्था के नियमों में ही होना चाहिए। यदि जीवन-मात्र की एकता एक वैज्ञानिक नियम है तो हमारे नीति-शास्त्र की धारणाएं इसी नियम से प्रसूत होनी चाहिए; यदि जीवन एक अखंड समष्टिगत प्रक्रिया है तो हमारे आचरण का औचित्य इस एकता और अखंडता के भाव की ओर प्रवृत्त होने में माना जाना चाहिए और इसी तरह, यदि किसी एक का कर्म पूरे समाज को प्रभावित करता है तो हर वैयक्तिक आचरण की कसौटी यह होगी कि वह पूरे समाज के कल्याण में कितना उपयोगी है- नैतिक एवं भौतिक दोनों दृष्टियों से। इसलिए, जिन नैतिक सिद्धांतों को सभी धर्मों में श्रेयस्कर माना है, वे केवल नैतिक उपदेश नहीं बल्कि अपने धर्म विशेष की तत्व-मीमांसीय सीमाओं को अतिक्रमण करते हुए वैज्ञानिक पृष्ठभूमि से विकसित होकर एक व्यापक आध्यात्मिक अनुभव की ओर अग्रसर होने की प्रक्रियाएं बन जाते हैं। सामान्यतः, सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि को केवल भावात्मक नैतिकता के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। लेकिन, यदि गहराई से देखें तो पाएंगे कि इन मूल्यों की एक विज्ञानसम्मत तात्विक आधारभूमि है, जिस से ये अंकुरित और विकसित होते हैं। शायद, इसीलिए, महात्मा गांधी नैतिक को ही आध्यात्मिक मानने और उसका प्रतिफलन समूची सामाजिक व्यवस्था और व्यवहार में भी देखना चाहते हैं। विनोबा यह मानते लगते हैं कि उसी के माध्यम से व्यक्तिगत तथा सामाजिक चित्त की समता सिद्धि हो सकती है, जिसे वह 'साम्ययोग'

कहते हैं।

विनोबा के अर्थशास्त्रीय विचारों को, इसीलिए, जहां एक ओर स्थूल आर्थिक लक्ष्यों के संदर्भ में परखने की जरूरत है, वहीं उनके दीर्घकालीन लक्ष्य-मानव चेतना के विकास- को भी सदैव दृष्टि में रखना आवश्यक है। विनोबा के अर्थशास्त्रीय विचारों में, इसी कारण, 'अर्थ-शुचित्व' की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसका तात्पर्य है 'अस्तेय' और 'अपरिग्रह' का संयोग। इन्हें आर्थिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का प्रतिफलन मानना चाहिए क्योंकि 'अर्थप्राप्ति की पद्धति का नियोजन अस्तेय करता है और उसकी मात्रा का नियमन अपरिग्रह।' यह रेखांकित करते हैं कि 'श्रीमानों को संपत्ति-मुक्त करना उनकी सेवा करना है'- उनके प्रति प्रेम है क्योंकि वह संपत्ति उनकी नैतिक-आध्यात्मिक चेतना के विकास की अवरोधक है। इस अर्थ में भूदान केवल गरीबों की ही नहीं, अमीरों की भी सेवा है।

विनोबा के विचारों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो किसी भी अर्थ-नीति और व्यवस्था का प्रयोजन ऐसी उत्पादन-प्रक्रिया का विकास होना चाहिए, जो सभी की बुनियादी जरूरतों को स्वस्थ तरीके से पूरा करने, रोजगार उपलब्ध करवाने के साथ-साथ उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के आत्मिक विकास की प्रक्रिया में भी सहायक हो सके। आज हम जिसे सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं, उसमें इस बात की परवाह नहीं है कि वह किन वस्तुओं के उत्पादन से हासिल की जा रही है। विनोबा स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्राचुर्य तो चाहते हैं और उनका समान वितरण भी, लेकिन निरर्थक वस्तुओं का उत्पादन और संग्रहण नहीं। दरअसल, 'कृत्रिम जरूरतों' के लिए उत्पादन के कारण ही पारिस्थितिकीय असंतुलन और प्रदूषण की समस्याओं में वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की नैसर्गिक क्षमताओं में भी कमी आती गई है। जहां तक रोजगार के अवसरों का सवाल है, यह अत्याधुनिक तकनीकी पर आश्रित उत्पादन-पद्धति ऐसे पड़ाव पर पहुंच चुकी है, जहां उत्पादन-वृद्धि तो है, पर रोजगार नहीं। इसलिए, यदि हम आर्थिक विकास की वर्तमान पद्धति का कोई विकल्प तलाश करना चाहते हैं तो हमें उन उद्देश्यों और प्रक्रियाओं पर भी पुनर्विचार करना होगा जिनसे वर्तमान व्यवस्था प्रेरित और संचालित है। महात्मा गांधी और विनोबा जैसे विचारक यही करने का सार्थक प्रयास करते हैं। ई.एफ. शूमाकर जैसे आधुनिक अर्थशास्त्री भी इस बात को पहचानते हुए कहते हैं : 'उन्नीसवीं शताब्दी से विरासत में मिली आत्मा और जीवन का हनन करने वाली तत्वमीमांसा का स्थान क्या चीज लेगी? मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि हमारी पीढ़ी के सामने सबसे बड़ा काम तत्वमीमांसीय पुनर्निर्माण का है... हम, दरअसल, एक तत्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्वमीमांसीय होना चाहिए।' विनोबा का चिंतन वर्तमान अर्थशास्त्र का तत्वमीमांसीय परीक्षण करता और एक वैकल्पिक तत्व मीमांसा का प्रस्ताव करने का ही उपक्रम है। स्वदेशी, ग्रामोद्योग आदि की अवधारणाएं केवल अर्थशास्त्रीय पैमानों पर ही नहीं, तत्वमीमांसीय कसौटियों पर भी खरी उतरती हैं। कुछ बड़े उद्योगों की अनिवार्यता को भी वह स्वीकार करते हैं, लेकिन, महात्मा गांधी की ही तरह उनकी भी स्पष्ट राय है कि उन पर व्यक्तिगत मालिकी के बजाय समाज की मालिकी होनी चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि उत्पादन-तकनीकी स्वयं ही अपने स्वामित्व और अपने उत्पादन से होने वाले लाभ के वितरण के बारे में दिशा संकेत दे देती है। उत्पादन के स्थानीय होने और उसकी तकनीकी से प्रसूत अहिंसक उत्पादक-संबंधों के कारण पूंजी का शोषणपरक केंद्रीकरण

संभव नहीं रहता और लाभ के लगभग समान वितरण अर्थात् आर्थिक साम्य का आदर्श स्वयमेव ही लागू हो जाता है। ग्राम-समूहों अथवा शहरों में होने वाले मध्यम दर्जे के उद्योगों के लिए, जिनके लिए शुमाकर द्वारा प्रस्तावित 'मध्यवर्ती तकनीकी' की जरूरत पड़ती है, महात्मा गांधी न्यासिता का प्रस्ताव करते हैं, जिसे विनोबा 'विश्वस्त-वृत्ति' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। विनोबा का मानना है कि इसी प्रकार आर्थिक साम्य की प्रक्रिया 'पारमार्थिक साम्य' की ओर ले जाने वाली योग-प्रक्रिया में रूपांतरित हो सकेगी।

आधुनिक राज्य संस्थान, मूलतः और अंततः भी, हिंसा पर आधारित है- चाहे उसका औपचारिक स्वरूप कुछ भी हो। लोकतांत्रिक कहे जाने वाले राज्य भी अंततः बहुमत के आधार पर अल्पतम के साथ हिंसा करने का सामर्थ्य रखते ही हैं। विनोबा जैसे विचारक मानव-चेतना का भविष्य जिस दिशा में देखते हैं, उसकी प्रक्रिया में हिंसा की कोई भूमिका नहीं हो सकती। विनोबा, इसीलिए, सुशासन के बजाय केवल 'शासन-मुक्ति' का ही आग्रह नहीं करते बल्कि 'राज्य' पद से ही असहमति जताते हुए 'प्राज्य' पद का विकल्प देते हैं। उन्हें परिपूर्ण विकास की दृष्टि से राज्य-व्यवस्था की समाप्ति ही चाहिए। एक राजनीतिक विचारक के रूप में, इसीलिए, विनोबा को प्रूथों, गॉडविन, तोलस्तोय, थोरो, क्रोपाटकिन एवं महात्मा गांधी जैसे दार्शनिक अराजकतावादियों की परंपरा में देखा जाना चाहिए। विनोबा, अन्य अराजकतावादियों की तरह केवल राज्य-संस्था के लोप पर ही नहीं, संपत्ति की संस्था के लोप-कांचन-मुक्ति- पर भी बल देते हैं। विचारकों का एक वर्ग, बल्कि बहुसंख्यक वर्ग, यह मानता है कि मनुष्य में बुराई अंतर्जात है, इसलिए, उसका दमन करने के लिए हिंसा का प्रयोग अनिवार्य है। अतः वे राज्य की हिंसक शक्ति को एक अनिवार्यता मानते हैं। यहां सवाल उठता है : यदि राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसा का प्रयोग कर सकता है, तो कोई अन्य व्यक्ति या संस्था के अपनी समझ में किसी अच्छे उद्देश्य के लिए हिंसा के इस्तेमाल को किस तर्क से अनुचित माना जा सकता है?

विनोबा, श्री अरविंद की तरह, यह मानते हैं कि 'मानव-स्वभाव कोई नियमित और स्थिर वस्तु है, ऐसा नहीं वह सतत विकसित होना चला आया है और आगे भी होता चला जाएगा।' बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे विचारक भी, एक भिन्न विश्लेषण के आधार पर सही, मानव-प्रकृति के विकास की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। मानव-प्रकृति कोई स्थिर प्रयत्न नहीं है। उसमें परिवर्तन घटित होता रहा है और आत्मचेतन होने के कारण मनुष्य इस परिवर्तन में हस्तक्षेप करने का सामर्थ्य रखता है।

विनोबा, इसलिए यह मानते हैं कि 'जैसे-जैसे प्रजा की शक्ति, योग्यता और ज्ञान बढ़ेगा, प्रजा से परस्पर सहयोग का माद्दा बढ़ेगा, वैसे-वैसे सरकार की जरूरत कम होती जाएगी। फिर सरकार आज्ञा देने वाली नहीं; बल्कि सलाह देने वाली संस्था बन जाएगी। इसी तरह जैसे-जैसे जनता का नैतिक स्तर ऊपर उठेगा, वैसे-वैसे हुकूमत की, हुकूमत चलाने की शक्ति क्षीण होती जाएगी- हुकूमत कम होती जाएगी। आखिर में तो हम यही आशा करते हैं कि हुकूमत मिट भी जाएगी। सर्वोदय के अंतिम आदर्श में हम शासन-मुक्त की कल्पना करते हैं।'

सर्वोदय विचार में सत्ता के सभी रूपों का विकेंद्रीकरण की वह व्यवस्थागत प्रक्रिया हो सकती है, जो हमें, अंततः, शासन-मुक्त कर सकेगी। विनोबा कहते हैं : 'सच्ची लोकसत्ता तब तक नहीं आ सकती, जब तक शासन केंद्रित रखते हैं और सेना का आधार रखते हैं। जहां शासन केंद्रित किया,

वहां सेना लगेगी ही।' इसीलिए वह ग्राम-स्तर की 'स्वयंपूर्णता' का प्रस्ताव करते हैं : 'हम जानते हैं कि अंतिम हालत में समाज शासन-मुक्त होगा। ऐसा आत्म-निर्भर समाज निर्माण करने के लिए सर्वत्र स्वयंपूर्ण क्षेत्र बनने चाहिए। उत्पादन, विभाजन, रक्षण, शिक्षण जहां का वहीं हो।... गांवों के समूह भी स्वयंपूर्ण बनाए जा सकते हैं.... छोटी-छोटी योजनाएं हम स्वयं अपनी शक्ति से करें, तो हिंदुस्तान जितनी प्रगति कर सकेगा, उतनी बड़ी योजनाओं को लाद लेने से नहीं कर सकेगा।' वह स्वयंपूर्ण विकेंद्रीकरण ही उस ग्राम-स्वराज्य का आधार हो सकता है, जिसका सपना गांधी-विनोबा देखते हैं। अभी प्रचलित पंचायती राज को विनोबा वास्तविक विकेंद्रीकरण नहीं मानते क्योंकि वह स्वयंपूर्ण नहीं है। वह उसके 'विकेंद्रित शोषण-योजना' कहते हैं क्योंकि 'सारा लोकजीवन ऊपर से, केंद्र से नियंत्रित है।' वह चाहते हैं कि प्रत्येक ग्राम-सभा के पास वे ही अधिकार हों, जो देश की संसद के पास होते हैं। उनका तर्क है कि एक देश के लिए स्वराज्य का जो अर्थ है, वही अर्थ प्रत्येक गांव के लिए होना चाहिए। आधुनिक राज्य-शास्त्र की पदावली में इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक ग्राम-सभा प्रभुसत्ता-संपन्न होगी और प्रत्येक व्यक्ति ग्रामवासी को शासन में प्रत्येक सहभागिता का अधिकार होगा, न कि किसी प्रतिनिधि के माध्यम से। विनोबा इसे 'सर्वायतन' या 'सकलायतन' शासन कहते हैं। इन ग्राम-स्वराज्यों के संघटन के लिए विनोबा 'निमित्त मात्र प्रांतीय सत्ता' और ऐसे प्रांतों के लिए 'निमित्त मात्र राष्ट्रीय सत्ता' की संकल्पना करते हैं; जो अंततः 'निमित्त मात्र अखिल मानव-सत्ता' तक जा पहुंचती है और ऐसा तब तक नहीं हो सकता, 'जब तक जनता स्वावलंबी और सहकारी नहीं होगी।' विनोबा के अनुसार, इसीलिए, वास्तविक प्रभुसत्ता तो प्रत्येक व्यक्ति ही है, जिसका सहकार, अंततः, पूरी मानवता को मिलना है। वह इसीलिए एक-एक गांव के स्वराज्य को 'विश्व-स्वराज्य' की संज्ञा देते हैं। विनोबा का यह विचार अंतरराष्ट्रीयतावाद के विचार को मान्यता देता है, पर उसका आधार-सिद्धांत 'सह-अस्तित्व' बल्कि 'सहकार'- होगा और इसके लिए वह किसी राष्ट्रीय सीमा को स्वीकार नहीं करते। राष्ट्रवाद, विनोबा की दृष्टि में, छोटी बात है क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ नहीं है। विनोबा इसीलिए 'जय हिंद' के बजाए 'जय जगत' का मंत्र देते हैं। लेकिन, यह उल्लेखनीय है कि वह कहीं भी, अन्य अंतरराष्ट्रीयतावादियों की तरह, 'विश्व-सरकार' पद का इस्तेमाल नहीं करते- वह 'विश्व-राज्य' नहीं, 'विश्व-स्वराज्य' की बात करते हैं।

हिंसा-मुक्त राजनीति के अपने विचार की अनुरूपता में, सहज ही, साध्य-साधन के एकत्व और महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित सत्याग्रह को स्वीकार विनोबा भी करते हैं, पर वह उसके लिए पहले 'सत्यग्राही' होना आवश्यक मानते हैं। इसीलिए, वह दबाव के बजाए समझाने की शक्ति और स्वरूप को महत्व देते हैं : 'सम्यक् आचरण से, सम्यक् वाणी से और सम्यक् विचार से लोगों के दिलो-दिमागों को समझाना, यही सत्याग्रह है... समझाने की कोई सीमा नहीं होती। इसलिए, जिसे आप सत्याग्रह कहते हैं, वह उसी हद तक संभव है, जिस हद तक उस का समझाने का स्वरूप बना हुआ है। दबाव का स्वरूप आने पर वह सत्याग्रह नहीं रहता।' महात्मा गांधी तक के आंदोलनों के बारे में उनका मत है कि उनमें कहीं-कहीं दबाव का स्वरूप आ जाता था, इसलिए, वहां सत्याग्रह में न्यूनता रह गई। वह इसीलिए सत्याग्रह को अहिंसक प्रतिकार के बढ़कर 'विरोधी को ठीक चिंतन के लिए मदद करना' मानते हैं। इसे वह 'सौम्य सत्याग्रह' की संज्ञा देते हैं और इसी की शक्ति को आगे बढ़ाते हुए 'सौम्यतर' तथा 'सौम्यतम' तक ले जाते हैं, जिसका आशय है कि क्रिया को न्यून

करते हुए विचार समझाने को निरंतर महत्व देते जाना। लेकिन, सर्वमान्य सिद्धांतों पर आघात होने की स्थिति में वह क्रियात्मक सत्याग्रह की वांछनीयता को स्वीकार करते हैं। लेकिन, सर्वमान्य क्या है, यह फिर बहस का विषय हो जाता है। वह यह भी मानते हैं कि 'जो बात कानून द्वारा मान्य हो और जिसके लिए मनमत अनुकूल हो, फिर भी उस पर अमल न होता हो, तो ऐसे मौकों पर सत्याग्रह किया जा सकता है।' कुछ बातों के लिए तो वह कानून के जरिए परिवर्तन के महत्व को भी स्वीकार कर लेते हैं। समझाने या विचार की शक्ति के महत्व को वरीयता देने के कारण ही साहित्य के महत्व को न केवल स्वीकार करते बल्कि उसे विज्ञान और आत्मज्ञान के समकक्ष दर्जा देते हैं। वह कहते हैं : 'दुनिया को बनाने में तीन ताकतें ही काम करती हैं- विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य।' इनमें वह साहित्य को 'उभयान्वयी' और 'अव्यय' मानते हैं क्योंकि विज्ञान और आत्मज्ञान दोनों के छोरों को यह शक्ति मिलाती और अव्यय अर्थात् अखंड रखती है।

विनोबा की दृष्टि में उच्चतम कोटि का साहित्य, मूलतः, सत्यान्वेषण की प्रक्रिया है- और इसीलिए वह उसकी शक्ति को 'परमेश्वर की शक्ति के बराबर' मानते हैं क्योंकि उसके पास वह 'तीसरी आँख' है, जो उस दुनिया को देख पाती है, जिसे हमारी दोनों आँखें नहीं देख पाती और इस 'तीसरी आँख' से होने वाले दर्शन में 'दुनिया के सर्वमान्य व्यवहार के पीछे, उसके अंदर, और उसकी तह में कौन-सी ताकतें काम कर रही हैं, उनका दर्शन होता है। उनमें से फिर काव्य-स्फूर्ति, साहित्य निकलता है।' इसी कारण वह साहित्य या साहित्यकार को किसी संप्रदाय या विचारधारा में बंधा हुआ नहीं देखना चाहते क्योंकि ऐसे पूर्वग्रह सत्यान्वेषण या सत्यानुभूति की प्रक्रिया में बाधा बन जाते हैं। साहित्य को एक अहिंसक प्रक्रिया मानने के कारण वह उस साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जो केवल सांकेतिक हो। किसी भी हेतु से साहित्य को न बांधने के आग्रह के ही कारण विनोबा ने यह पसंद नहीं किया कि कोई भूदान के हेतु को लेकर भी उपन्यास आदि लिखे। उन्हीं के शब्दों में, 'अगर यह होगा तो साहित्य खत्म है। अपनी अनुभूति से, जीवन की अनुभूति से लिखे और ऐसी कुशलता से लिखे कि बाबा को भी पता न लगे कि यह भूदान के लिए लिखा गया है।'।

विनोबा बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि धर्म और राजनीति के दिन अब लद गए हैं तथा भविष्य में इनका स्थान आत्मज्ञान और विज्ञान लेंगे। इनमें एक आंतरिक शक्ति है और दूसरी बाह्य शक्ति। साहित्य इन दोनों को जोड़ेगा क्योंकि वह आंतरिक और बाह्य दोनों से संबद्ध है। विनोबा के लिए इन्हीं अर्थों में साहित्य भी 'साम्ययोग' की प्रक्रिया हो जाता है। साहित्य सत्यग्राही है, इसलिए सत्याग्रही भी।



वैश्वीकरण में भाषा का बदलता स्वरूप

कमल कुमार

भाषा को लेकर अविवेकपूर्ण निर्णयों से जनमन में विद्वेष फैलता है। स्वाधीनता के बाद हिंदी को 'राष्ट्र भाषा' की अपेक्षा 'राजभाषा' घोषित करने का परिणाम हम आज देख रहे हैं। राष्ट्रभाषा हमारी सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान होती है। आज देश में केवल 7 से 10 प्रतिशत लोग ही अंग्रेजी भाषा जानते पढ़ते और लिखते हैं। तो भी अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित हो रहा है। अंग्रेजी की बाध्यता का प्रभाव हमारी शिक्षा नीतियों, शिक्षा पद्धति और जीवन शैली और सोच पर पड़ा है। आने वाली, वर्तमान पीढ़ियों में भी मानसिक अलगाव बन गया है।

'हिंदी भाषी' को दोगुना दर्जे का माना जा रहा है। उनमें एक हीनभाव भी पैदा हुआ है। ऊंचे पदों पर या समान पदों पर होने पर भी अंग्रेजी भाषियों को उन्नत और शिक्षित माना जाता है। हिंदी भाषियों को पिछड़ा हुआ और दूसरे दर्जे पर रखा जाता है। क्या यह देश के हित में हुआ?

इस विषय पर विचार करते हुए दो विरोधी पर समानांतर विचारधाराएं हैं। जो आपसी तर्क और वितर्क में उलझी हैं। एक वर्ग है जो मीडिया क्रांति के समय में बन रही हिंदी के विरोध में है। उसका कहना है कि समाज और भाषा का गहरा संबंध है परंतु मीडिया भाषा के साथ छल करके एक भ्रष्ट समाज बना रही है। भाषा को भ्रष्ट बनाने में बाजार शक्तियां हैं जिनके पीछे अंतरराष्ट्रीय शक्तियां हैं जो सुनियोजित रूप से विकासशील देशों की भाषाओं को भ्रष्ट कर रही है। पर सवाल यह है कि क्या कोई सार्वकालिक भाषा हो सकती है? भाषा क्या कोई 'फिनिश प्रोजेक्ट' है? या फिर भाषा का संकर रूप प्रगतिपथ हो सकता है? दृश्य श्रव्य मीडिया में विशेष रूप से जो भाषा का प्रयोग में लाई जा रही है वह 'हिंग्लिश' है। जैसे फ्रांस में 'फंग्लिश' का प्रचलन हुआ था। बाहर के देशों में सब जगह की अपनी अंग्रेजी है और उसकी स्वीकृति भी है। यह समय भाषा के विस्तार का है प्रतिबंधन का नहीं है। अंग्रेजी के कितने ही शब्दों का हिंदीकरण किया गया है।

हिंदी अंग्रेजी के मिश्रण की भाषा का एक रूप एफ.एम. रेडियो की भाषा है। परिवर्तन और मिश्रण की प्रक्रिया जीवित भाषा की पहचान होती है। मीडिया की भाषा दर्शकों, श्रोताओं की अनुरूपता में ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है। यह थोड़ा विचित्र पर रुचिकर है कि वाचिक भाषा में युवा वर्ग चर्लिंग, करिंग, जाईंग जैसी मिश्रित क्रियाओं को भी प्रयोग में लाने से नहीं हिचकता लेकिन उनका मानना है कि भाषा का प्रमुख कार्य संप्रेषण है लेकिन तब मानक भाषा का क्या महत्व? यह सवाल भी महत्वपूर्ण है। फिर भाषा हमारी जातीय अस्मिता की पहचान है। यह हमारा संस्कार

है। भाषा को मात्र संप्रेषण का साधन कहकर उसको संकुचित नहीं किया जा सकता लेकिन भाषा जड़ नहीं गतिशील है।

इसके बावजूद जिस भाषा से बाजार का काम हो सकता है क्या वहीं भाषा ज्ञान, विज्ञान, विचार, साहित्य अन्वेषण और सृजन की हो सकती है? ये दीर्घजीवी, अर्थगर्भित और विश्वसनीय भाषा के क्षेत्र हैं? इन पर भी विचार करना अनिवार्य है। बाजार की भाषा तात्कालिक होती है। सृजक भाषा की रचना करता है जहां परंपरा और प्रयोग दोनों साथ रहते हैं। भाषा पर हमेशा से दबाव रहा। देशी-विदेशी भाषाओं या फिर कभी आंचलिकता का लेकिन आज मनुष्य के रागात्मक आवेगों पर बाजार का कब्जा है इसलिए भाषा में आज सांस्कृतिक विरूपता का खतरा उत्पन्न हो गया है। निर्मल वर्मा के विदेशी पात्रों की भाषा हिंदी ही है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मीडिया का उपनिवेश राजनैतिक उपनिवेश से भी भंयकर होता है जो समाज की जड़ों को हिला सकता है। मीडिया एक मानसिक उपनिवेशवाद बना रहा है जो घातक सिद्ध हो सकता है। इसकी भाषा सेक्स, हिंसा, फूहड़ता, हत्या, बलात्कार और थ्रिल की है जहां मानवीय संबंध नष्ट हो रहे हैं। बाजारवाद और भौतिकतावाद संबंधों में और घरों में घुस आया है। मीडिया अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की वकालत करता है पर इसकी आचार संहिता क्या है या क्या होनी चाहिए इस पर बात नहीं की जाती?

वैसे मीडिया स्वतंत्रता विरोधी है। वहां अनुबंध पर काम कराने की संस्कृति है। मीडिया बाजार के हाथ में है, उनके बाजार के पीछे शक्ति केंद्र-पेप्सी, कोला जैसी अंतरराष्ट्रीय कंपनियां हैं। साधारण नागरिक स्वतंत्र है लेकिन उसकी भाषा स्वतंत्र कहां रही? जहां ठंडे का मतलब कोका कोला है पर लस्सी, नींबू पानी इत्यादि क्यों नहीं? इस सच्चाई के लिए संघर्ष कौन करेगा? भाषा के लिए संघर्ष कौन करेगा? क्या यह सिर्फ रचनाकार का ही दायित्व है? अंतरराष्ट्रीय सूचना प्रौद्योगिकी शक्ति के केंद्र हैं। सत्ता का ध्रुवीकरण इसी से होता है। इसका आक्रमण अधिक भंयकर है परमाणु बम की तरह जिससे पीढ़ियां दर पीढ़ियां नष्ट होंगी। अमरीका की इराक पर 'विजय' का अर्थ कौन नहीं जानता लेकिन सारा विश्व चुप! मीडिया की भाषा ने जो मनवाया वही माना गया। मीडिया की भाषा में चेतना, लोकहित, मूल्य बोध का कोई स्थान नहीं है। मीडिया में हिंदी की स्थिति कृत्रिम, पराश्रित और उधारी की कर दी है जहां माल बेचना प्रमुख लक्ष्य है। न्यूज तक में कमर्शियल ब्रेक है। अंग्रेजी संपर्क भाषा से ज्यादा अलगाव, अहंकार, अधिकार और रोब की भाषा है जबकि हिंदी भाषा जनभाषा है, शक्ति और सत्ता से वंचित इसके कारण राजनैतिक ही हैं।

आम आदमी को किस भाषा से मुख्यधारा के साथ जोड़ा जाए? क्या यह सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए परंतु किससे? कौन देगा इसका उत्तर? दूसरा वर्ग है विचारधारा में पहली के विपरीत। इस वर्ग की मान्यता है अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने हिंदी भाषा का सशक्तीकरण किया है। दृश्य-श्रव्य मीडिया, कंप्यूटर, इंटरनेट, फ़ैक्स, मोबाइल, सिनेमा, दूरभाष इन सारे विद्युतीय माध्यमों ने हिंदी के प्रचार-प्रसार को नई शक्ति और नई दिशा प्रदान की है।

साथ ही मीडिया को अंतरराष्ट्रीय मंच पर हिंदी का व्यापक स्तर पर अवतरण हुआ है। मीडिया के साधनों ने इस दिशा में सकारात्मक भूमिका निभाई है फिर मिश्रण विकृति नहीं है, यह आगे बढ़ने की प्रक्रिया है। यदि देश की सीमा के बाहर गैर भारतीयों को अंग्रेजी के छोंक से हिंदी पहुंचा सकें

तो यह उपलब्धि है। भाषा का निरंतर प्रवाह बहते जल सा होता है जो उसे संजीवनी प्रदान करता है। आज हिंदी को साहित्य की चारदीवारी से बाहर निकालकर नए क्षेत्रों, प्रयोगों, अनुप्रयोगों से और हमारे पाठ्यक्रम से जोड़ने की जरूरत है जो कि मीडिया कर रहा है।

भाषा अगर उपभोक्तावादी संस्कृति का हिस्सा बन रही है तो साथ ही उद्योग व्यवसाय और संप्रेषण का माध्यम भी बन रही है। लोकतंत्र से जुड़ रही है। देश विदेश में तमाम भाषाओं में हिंदी और अंग्रेजी में सूचनाओं को अनुवाद से पहुंचाया जा रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में हिंदी ने अपना एक नया मुहावरा बनाया है। भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण को भाषा प्रौद्योगिकी साकार कर रही है और हिंदी अभिजात वर्ग से जुड़ रही है।

भारत के नागरिक को विश्व समाज से जोड़ने का कार्य सूचना और भाषा प्रौद्योगिकी कर रही है। सूचना प्रौद्योगिकी के सहस्त्रों हाथ हैं और इनकी शक्ति हिंदी बन रही है जो शब्दकोश से विश्वकोश की ओर अग्रसर हो रही है। पोर्टल के माध्यम से देश विदेश की खबरें, विज्ञापन, कारोबारी सूचनाएं, शिक्षा शेयर, बाजार साहित्य, संस्कृति, धर्म दर्शन सभी की ताजा जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इंटरनेट के फलक पर वेबदुनिया डॉट कॉम (इंडिया) लि. ने हिंदी पोर्टल का विकास कर इस चुनौती को पूरा किया जो 'वसुधैव कुटुंबकम' की हमारी अवधारणा का संदेश दे रही है। 136 देशों में हिंदी का अध्ययन अध्यापन हो रहा है। हिंदी की शब्द संपदा 7 लाख शब्दों की है जबकि अंग्रेजी की तीन लाख शब्दों की है। सूचनाक्रांति और सूचना विस्फोट में हिंदी का पूरा हस्तक्षेप है। जनसंचार के माध्यमों के अंतरराष्ट्रीय फलक पर हिंदी ने अपनी भूमिका खुद तय की है।

'शब्दब्रह्म' की हमारी परिकल्पना में भारती मनीषियों ने भाषा की सभ्यता, संस्कृति, परंपरा, इतिहास, अस्मिता की भाषा माना। भूमंडलीय के साथ हिंदी ग्लोबीय भाषा के रूप में स्वीकृति, प्रयोग और पहचान की दिशा में बढ़ रही है। कंप्यूटर की भाषा अवश्य ही मनुष्य का कल्याण करेगी। वैश्विक स्तर पर हमारी सोच को विकसित करेगी। जातीयता की संकुचित सीमाओं से उठकर भूमंडल के साथ जोड़ेगी। हिंदी की भूमिका लोकतंत्र के चौथे स्तंभ मीडिया की होगी। भाषा का रूप अब बौद्धिक ही होगा। पर्यावरण की दृष्टि से कागज के उत्पादन में नष्ट हो रहे वनस्पति और लकड़ी की रोकथाम भी होगी।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया चाहे उच्च शिखर पर हो परंतु प्रिंट मीडिया का वर्चस्व हमेशा बना रहेगा। आज हिंदी अखबारों की संख्या और प्रसार लगातार बढ़ रहा है। कुछ भी हो छपे शब्द, समाचार पत्र और पुस्तकों के रूप में स्थायी अस्तित्व में हैं। इंटरनेट पर अखबार हैं और बहुत सी हिंदी की वेबसाइटें भी हैं जो अधिक लोकतांत्रिक भी हैं और भ्रांतियों को दूर भी करती हैं। इराक पर अमरीका का हमला हुआ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और प्रिंट मीडिया की दृष्टि का अंतर इसमें स्पष्ट देखा जा सकता था।

अंत में कुछ तथ्य है, दो विचारधाराओं के बीच हमारी मीडिया शब्दावली हिंदी में अपडेट नहीं है इसीलिए शब्दों को लेना अनिवार्य हो जाता है। दृश्य मीडिया हमारी आँखें और शब्द मीडिया हमारे कान हैं। ये अपनी अनुरूपता में शब्द ढूँढ ही लेते हैं। समस्या हमारे शब्दकोश और अकादमिक दुनिया की है। हमारे पास शब्द पर्याप्त नहीं हैं। नौकरशाही के चलते भी भाषा की हानि होती है। राजभाषा अधिकारी जो बैठक में हिस्सा लेते हैं उनकी सोच व्यावहारिक नहीं होती, रिमिक्स का विरोध क्यों? मीडिया में कैज्युअल क्रिएटिविटी का प्रयोग होता है।

साहित्यिक प्रतिभाएं भी मीडिया लेखन की ओर आ रही हैं। मीडिया भाषा का एक मोर्चा है। इसकी भाषा इसकी ही अनुरूपता में होगी लेकिन सिर्फ अकादमिक स्तर पर तर्क, बहस पर्याप्त नहीं। जब तक ये तर्क खत्म होता है निष्कर्ष आते हैं तब तक शब्द आगे बढ़ चुका होता है। व्यावहारिक पक्ष की जरूरत है। भाषा को साथ लेकर चलना है ताकि भाषा हमारी पहचान बनी रह सके। व्यावहारिक दृष्टि से बदलती भाषा का वैश्विक रूप संचार माध्यमों की भाषा से अलग नहीं हो सकता।

- यह भाषा, फिल्म, टेलीविजन, कंप्यूटर, मोबाइल इत्यादि वर्चुअल रिएलटी की भाषा होगी।
- मार्शल मैकलुहान ने कहा 'नेट' से नागरिकता बदल गई और 'नागरिकता' की भाषा बदल गई है।
- संचार के लिए संवाद की भाषा चाहिए। रिश्ता बना सके। 'संचार' सिर्फ सूचना के लिए नहीं संबंध भी स्थापित करते हैं।
- संचार माध्यमों में साहित्य भी शामिल है। आज प्रिंटिंग की सारी तकनीक बदल गई है। कंप्यूटर और इंटरनेट आवश्यक हो गए हैं। सूचना एक 'उत्पाद' है जो बेचा और खरीदा जाता है। इसकी एक मार्केट है। इसलिए भाषा 'उत्पाद' (कमोडिटी) है। बाजार जिसे अपनाएगा उसे फैलाएगा। भाषा का भी विस्तार होगा।
- यह भी सच है, मार्शल मैकलुहान के अर्थों में कि संचार माध्यमों को लेकर नैतिक और सामाजिक सवाल उठ रहे हैं परंतु भाषा पर इस अर्थ में बात नहीं हुई। भाषा का सामाजिक विश्लेषण तो हुआ चिंता भविष्य की भाषा को लेकर है। आज मशीन और तकनीक ने जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश किया है। विज्ञान, तकनीक शिक्षा का पर्याय बने। संवेदना, चिंतन, मूल्य मान्यताओं के प्रति स्थिति स्पष्ट नहीं इसलिए भाषा की 'डिकोडिंग' सही अर्थों में होनी चाहिए।
- संचार के सभी माध्यमों ने भाषा की एक लंबी यात्रा तय की है। आज की भाषा में मल्टीमीडिया की भाषा का 'यूजन' है जो यथार्थ की संश्लिष्ट इमेजिज, साइबरस्पेस के डिजिटल यथार्थ तथा बदलते यथार्थ की संरचना में सक्षम होगी।
- आज संप्रेषण से अर्थ ग्लोबल संप्रेषण का सत्य है। विदेशों में रह रहे हमारे बच्चे कैसी भाषा का प्रयोग करते हैं? भाषा के स्तर पर भी दुनिया बदल रही है। इस बदली हुई भाषा, संचार माध्यमों की भाषा जाने बिना कहीं रोजगार भी संभव नहीं होगा। मिल जाने पर कार्य संभव नहीं, जब तक इस भाषा को नहीं प्रयोग में लाया जाएगा।
- साहित्य की भाषा से यह संप्रेषण संभव नहीं क्योंकि यह भाषा न तो 'इमिडिएट' है और न ही इसमें 'स्पीड' है लेकिन अब साहित्य की अवधारणा भी बदल गई यह एकांत लेखन नहीं। इंटरनेट पर भी पढ़ने की सुविधा है। 'ईबुक्स' की भी सुविधा है।
- मार्शल मैकलुहान ने कहा था 'Culture is our business' उनका मतलब है कि संस्कृति कला, साहित्य को संचार माध्यम प्रमोट करते हैं साथ ही भाषा को भी विकसित करते हैं। भाषा को लोगों में 'मल्टीप्लाय' करते हैं इसलिए संचार माध्यमों के लिए एक बिजनेस है जिसे बाजार चाहिए। यह बाजार देता है संचार माध्यम। एक अति साधारण व्यक्ति को

मीडिया 'महान' साहित्यकार, कलाकार, चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता, निर्देशक कुछ भी बना सकता है।

- संचार माध्यमों की भाषा दृश्य और श्रव्य दोनों को प्रभावित करती है। यह भाषिक और कामिथ (बॉडी लैंग्वेज) दोनों होती है जो देखने सुनने वालों का ब्रेन वॉश कर देती है। कई बार उन्हें विवेक शून्य तक कर सकने की ताकत रखती है। इसलिए वे वही देखें, सुनें जो उन्हें दिखाया और सुनाया जा रहा है। खतरा है पर विकास बाजार का पर्याय हो रहा है।
- साहित्य की भाषा में दुनिया को बदलने की प्रक्रिया लंबी और लॉगीटूटनल (Longitudinal) होती है। यह निरंतरता में चलती है पर कभी संपन्न नहीं होती जबकि संचार माध्यमों की भाषा हमारी मान्यताओं, विश्वास और अनुभवों को झुठला सकती है। संचार माध्यमों की भाषा जब राजनीति से प्रभावित होती है तो खतरा और बढ़ जाता है।
- सच तो यह है कि भौगोलिक सीमाएं टूटी हैं इसलिए भाषा की, संस्कृति की, साहित्य की सीमाएं भी टूटेगी। अब जब विश्वग्राम या ग्लोबल की बात की जा रही है।
- यह सच्चाई आज जान लेनी होगी जो भाषा संचार माध्यमों का प्रयोग करते हैं और जो कहते हैं वह वास्तव में 'आधा सत्य है', 'विश्वास करो या न करो' यह अपने विवेक पर है। भाषा की गहराई में जाना होगा। यही सत्य है वैश्विक भाषा के स्वरूप का।



भ्रष्ट हो रही है हमारी भाषा

नवनीत मिश्र

हिंदी जिसको अहिंदी भाषी बंगाल में पत्रकारिता के माध्यम से न केवल समृद्ध किया गया बल्कि उसके मानक रूप को अक्षुण्ण बनाए रखा गया और महाराष्ट्र से उत्तर प्रदेश जैसे हिंदी भाषी राज्य में आकर मराठी भाषी पत्रकारों ने हिंदी के विकास की लौ प्रज्वलित की उसी हिंदी की दशा हम हिंदी भाषियों के सामने दिनोंदिन शोचनीय-सी होती जा रही है। ऐसा हमारी लापरवाही और अपनी भाषा के पति संवेदनहीनता के कारण हो रहा है।

हिंदी भाषा के विकास और उसके संवर्द्धन के लिए हमारे साहित्यिक मनीषियों ने लगातार प्रयास किए हैं जिनको हमने विस्मृत कर रखा है। पाणिनी ने देवनागरी की व्याख्या अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में बड़े वैज्ञानिक ढंग से की है। उन्होंने यह भी बताया है कि मनुष्य के मुख के किस भाग से किन अक्षरों को लक्ष्य करती हुई ध्वनि निकलती है। उदाहरण स्वरूप अ तथा क वर्ग की ध्वनि कंठ से पैदा होती है। इसी प्रकार छोटी इ और च वर्ग की ध्वनि तालु से निकलती है तथा ऋ और ट वर्ग की ध्वनियां ऊर्ध्व से पैदा होती हैं। लृकार तथा त वर्ग की ध्वनियां दांत से निकलती हैं तथा उकार और प वर्ग की ध्वनियां होठ से निकलती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कंठ से प्रारंभ होकर होंठ तक ध्वनियों के निकलने के स्थान हैं। इस बात का उल्लेख करने का एक प्रमुख कारण यह है कि भाषा भी यात्रा करती है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और एक समूह से दूसरे समूह तक। बोलने में यदि शुद्धता नहीं बरती गई तो भाषा का अशुद्ध रूप चलन में आ जाता है जो कालांतर में शब्द के शुद्ध और मानक रूप को चलन से बाहर कर देता है।

आधुनिक हिंदी के पाणिनि कहे जाने वाले आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का कथन है- 'भाषा एक दिन में नहीं बन जाती, साहित्य तो बहुत दूर की चीज है। सहस्रों वर्षों में मनुष्य ने शब्दों के अर्थ-संकेत करके व्यवहार की भाषा बना पाई।'

तो हमारे पूर्वजों ने हमें एक विकसित और समृद्ध भाषा देने के लिए जो चिंता की, जो श्रम किया और अंततः भाषा की जो थाती हमें सौंपी हम उसे सहेज नहीं पा रहे हैं। इसका एक बड़ा कारण तो यह जान पड़ता है कि हिंदी के बारे में एक आम धारणा घर करती गई है कि इसको सीखने या इसके व्यवहार के लिए किसी विशेष श्रम या प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। अंग्रेजी ने हमारे अंदर एक तरह की हीनभावना-सी भर दी है जिसके कारण आज हिंदी का न जानना ही 'सभ्य', 'बड़ा आदमी' और 'प्रभावोत्पादक' होने का परिचायक बनता गया है। इधर के समय में हिंदी को

जिस तरह अंग्रेजी धीरे-धीरे बेदखल करने का जो प्रयास कर रही है वह सचमुच हमारी गहन चिंता का विषय होना चाहिए। यह अलग बात है कि अंग्रेजी का ऐसा कोई प्रयास कभी सफल नहीं हो सका और न कभी हो सकेगा क्योंकि हिंदी हमारे भीतर बद्धमूल है लेकिन इतनी आश्वस्ति भर से ही हम अपनी भाषा के प्रति लापरवाह नहीं हो सकते।

हिंदी ही एक ऐसी वैज्ञानिक भाषा है जो जैसी लिखी जाती है वैसी ही बोली भी जाती है। हिंदी में किसी शब्द का कोई अक्षर 'साइलेंट' नहीं होता। यह विशेषता हिंदी की नागरी लिपि को विश्व की अन्य भाषाओं की लिपियों से विशिष्ट बना देती है। मनुष्य के मुख से जो भी ध्वनि निकलती है या प्रकृति में जो ध्वनियां पैदा होती हैं उन सभी को नागरी लिपि के माध्यम से लिखा जा सकता है। थोड़े-बहुत सुधार के बाद हम विश्व की सभी भाषाओं को नागरी लिपि के माध्यम से लिख सकते हैं। फिर ऐसा कैसे हो पा रहा है कि शब्द अपना स्वरूप खो रहे हैं और उनके उच्चारण अपना सौंदर्य? हिंदी में निमोनिया कहने से तत्क्षण पता लग जाता है कि हम किस रोग की बात कर रहे हैं लेकिन अंग्रेजी में जब वह pneumonia बनकर सामने आता है तो शब्द को समझने में थोड़ा समय लगता है। कार रेस का एक खेल है जिसे अंग्रेजी में Grand prix लिखा जाता है लेकिन उसका उच्चारण होता है- ग्रॉ प्री। अंग्रेजी में जिसे हम clam लिखते हैं उसमें एल साइलेंट है इसलिए उसका उच्चारण किया जाता है काम जिसका अर्थ है शांत। हिंदी में हिज्जों से संबंधित ऐसी कोई बाधा सामने नहीं आती। इस तरह के अनेक उदाहरण गिनवाए जा सकते हैं लेकिन यहां इन उदाहरणों को लिखने का उद्देश्य मात्र इतना है कि हम अपनी हिंदी भाषा की वैज्ञानिकता और उसकी सुगमता को समझ सकें। बहुत कम ऐसा होता है कि उज्ज्वल शब्द को उसके सही हिज्जों में आप लिखा हुआ देख सकें। बहुधा दूसरा 'ज' आधा न लिखकर लोग पूरा लिख देते हैं। यदि उज्ज्वल शब्द को हम एक बार सावधानी से उच्चरित करके देख लें तो स्वतः जान जाएंगे कि इसको लिखने में दोनों 'ज' आधे ही लिखे जाएंगे। 'हमने कहा कि', के स्थान पर तो अब 'हमने कहा की' चल निकला है। वर्तनी संबंधी ये गलतियां भाषा को बहुत क्षति पहुंचाती हैं। नमस्कार को 'नमस्कार' बोलते हुए तो आप बहुतों को सुन सकते हैं। शायद ही कोई सही शब्द 'बवाल' बोलता हो, सबको आप 'बवाल' ही बोलते सुनेंगे। अनेक लोग एक का बहुवचन बनाते समय 'अनेकों' कर देते हैं जो सर्वथा अमान्य है। एक का बहुवचन अनेक ही हो सकता है। इसी प्रकार विधवा स्त्री कहने के बजाय केवल विधवा कह देना ही पर्याप्त होगा। लेखिका कहने मात्र से हमारा मंतव्य स्पष्ट हो जाता है, 'महिला लेखिकाओं' कहने की आवश्यकता नहीं है। यही हाल विधायक और निदेशक के साथ है। महिला विधायक के लिए विधायिका और महिला निदेशक के लिए निदेशिका लिखे या बोले जाने से तो इन शब्दों के अर्थ ही बदल जाते हैं। फलां क्षेत्र 'की विधायक' और अमुक संस्थान 'की निदेशक' लिखने या बोलने से स्पष्ट हो जाता है कि विधायक और निदेशक कोई महिला है। इसी तरह मिश्रा, शुक्ला या श्रीवास्तवा जैसा कुछ नहीं होता। जैसे केरल के हिज्जों में अंत में 'ए' लग जाने से केरला कहा जाने लगा है उसी तरह अंत में 'ए' लग जाने के कारण मिश्र, शुक्ल और श्रीवास्तव का स्वरूप बदलकर मिश्रा, शुक्ला और श्रीवास्तवा हो जाता है।

जैसा कि आचार्य वाजपेयी जी ने कहा कि 'भाषा एक दिन में नहीं बन जाती' उसी प्रकार भाषा एक दिन में भ्रष्ट भी नहीं होती। किन्हीं शब्दों के लगातार गलत प्रयोग करते रहने से एक दिन

शब्द का वही त्रुटिपूर्ण रूप व्यवहार में आने लगता है और भाषा के स्वरूप को बिगाड़कर रख देता है। उदाहरण के लिए कई लोग ग्यारह को इग्यारह बोलते हुए मिल जाएंगे। यह ग्यारह इग्यारह कैसे बन गया? मैंने बहुत खोज की तो पाया कि कहीं-कहीं तो इस 'इग्यारह' ने कई-कई पीढ़ियों को जकड़ रखा है और वर्तमान पीढ़ी अगली पीढ़ी को ग्यारह की जगह इग्यारह ही सौंप रही है। पता लगा कि यह पेड़ के नीचे लगने वाली ग्रामीण पाठशालाओं की देन है। मास्साब, खूब सारा भोजन करके ऊंधते हुए बच्चों को गणित पढ़ा रहे हैं। भरे पेट की नींद की झोंक में अलसाई आवाज में वह नौ दो इग्यारह बोल रहे हैं और बच्चों की जिह्वा पर वह इग्यारह ऐसा अंकित हो जाता है कि वह इसी को शुद्ध मानते हैं। घर के और लोग भी ग्यारह को इग्यारह बोलते हैं क्योंकि उनके अध्यापक ने भी उन्हें इग्यारह ही सिखाया था। 'इग्यारह' कई पीढ़ियों से इसी तरह यात्रा करता आ रहा है और इसे सुधारा न गया तो आने वाली कई पीढ़ियों तक और चलता रहेगा। इसी प्रकार बहुत से शब्द आपको मुखसुख की अनुमति नहीं देते लेकिन सुरभि को 'सुरभी' और मारूति को 'मारूती' बोलना आमतौर पर सुना जा सकता है। एक धारावाहिक में जब एक सम्राट अप्रतिम के स्थान 'अप्रतीम' बोलता है और बार-बार बोलता है तो पीड़ा होती है।

भाषा को बिगाड़ने में बड़ा योगदान टेलीविजन के चैनल कर रहे हैं। चैनलों ने हिंदी का एक अगल ही रूप चलाना शुरू कर दिया है जो किसी भी तरह से ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। 'हम हमारे पिता से कहेंगे' जैसे संवाद कभी भी सुने जा सकते हैं। 'तुम तुम्हारा नाम बताओ' सुनने में बेहद अटपटा लगता है क्योंकि यह हिंदी व्याकरण सम्मत नहीं है। हम अपने पिता से कहेंगे और तुम अपना नाम बताओ न बोलने के पीछे एक प्रमुख कारण है चैनल में प्रसारित होने वाले धारावाहिकों में मराठी भाषियों का वर्चस्व। ऐसा होने के पीछे विद्वेष की कोई भावना नहीं है बस उनकी भाषा जब हिंदी संवादों में अपने को व्यक्त करती है तो उसमें हिंदी का यही स्वरूप सामने आता है। गिनती में हम जिसे अट्टारह कहते हैं वह हिंदी सिनेमा के संवादों और गीतों में अटूठा हो जाता है कारण, वही मराठी भाषा का प्रभाव।

भाषा ही अभिव्यक्ति का माध्यम है। वह जितना अपने लिखित रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक यात्रा करती है उससे कहीं अधिक वह वाणी के माध्यम से दूसरों तक पहुंचती है। शब्द किस तरह विचारों को अभिव्यक्त करते हैं इस पर बहुत गहराई से भारतीय काव्य-शास्त्र में विचार किया गया है। साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि हम जब किसी शब्द का उच्चारण करते हैं या सुनते हैं तो तुरंत उससे किसी पदार्थ, स्थिति या भाव का बोध होता है। जैसे रोटी कहने पर तुरंत हमारे ध्यान में आटे से बने हुए गोलाकार खाद्य पदार्थ का ध्यान आता है। इसी पदार्थ को हम शब्द का अर्थ या प्रत्यय कहते हैं।

लिखना-पढ़ना और बोलना-सुनना अन्योन्याश्रित है। इसे और सहज ढंग से कहा जाए तो, लिखने की सार्थकता पढ़ने में और बोलने की सार्थकता सुनने में है। मनुष्य का मनुष्य से जुड़ने का एक अपरिहार्य सेतु है- बोलना।

मनुष्य ने बोलना पहले सीखा, लिखना बहुत बाद में। कहा जा सकता है कि लिखना, बोलने का हजार गुना विकसित रूप है। मनुष्य ने जब संकेतों से अपनी बात कहने की सीमा से आगे बढ़कर ध्वनियों के माध्यम से 'एक-दूसरे तक पहुंचने' की शुरुआत की होगी, वाचिक कला का प्रारंभ वहीं

से मान लेने में कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए।

‘बोलना’ हमारे नित्यप्रति के जीवन की एक अपरिहार्य क्रिया है। हम अपने आप को दूसरों तक इसी ‘बोलने’ के माध्यम से पहुंचाते हैं। यों हमारी आंखें और शरीर की भाषा भी बहुत कुछ ‘बोलती’ है लेकिन वह संकेतों की ‘बोली’ है जो यहां हमारे विचार का विषय नहीं है।

वस्त्र नहीं, बोलना हमारे व्यक्तित्व का ‘साइन-बोर्ड’ होता है। भले ही हम सूटेड-बूटेड और महंगे कपड़े पहने एक सुदर्शन व्यक्ति के रूप में सामने उपस्थित हों लेकिन यदि हमारा बोलना दोषपूर्ण है तो हमारा सारा वस्त्र-विन्यास धरा का धरा रह जाता है। अब प्रश्न यह है कि बोलना बल्कि अच्छा बोलना सीखा कैसे जाए?

किसी नवजात के कान पर चुटकी बजाइये, वह प्रतिक्रिया करेगा। जोर से ताली बजा देने पर चौंक उठेगा। दरअसल, बोलना सीखने की पहली पाठशाला मां की गोद है जहां से शिशु तरह-तरह की ध्वनियां सुनता है, उनका अनुकरण करता है और नये-नये शब्द पाना शुरू करता है। जो बच्चे बहरे पैदा होते हैं वह फिर गूंगे ही रह जाते हैं।

अच्छा बोलने के लिए अच्छा सुनना पहली और अनिवार्य शर्त होती है। रेडियो और अच्छे वक्ताओं को मनन करते हुए सुनना, बोलना सीखने में बड़ी भूमिका निभा सकता है। लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि अच्छा बोलना सीखने के लिए हम गुरु किसको बनाएं? यों ही किसी को गुरु बना लेने से या गुरु मान लेने से लाभ के बजाय हानि होने की संभावना भी बराबर बनी रहेगी क्योंकि शिष्य द्वारा गुरु के गुण ग्रहण किए जाते हैं तो दोष भी स्वाभाविक रूप से ग्रहण किए जाएंगे। इसीलिए कहा गया है कि ‘पानी पीजिये छानकर और गुरु कीजिये जानकर।’ किसी सिद्ध वक्ता को सुनने का अवसर तो कभी-कभी ही मिलता है लेकिन रेडियो पर समाचार पढ़ने वालों को गुरु बनाया जा सकता है। एकलव्य की तरह अगर रेडियो सुना जाए तो काफी हद तक अपने बोलने में परिपक्वता और उच्चारण में शुद्धता लाई जा सकती है। अब देवकीनंदन पांडे, अशोक वाजपेयी और विनोद कश्यप जैसी प्रतिभाएं तो रही नहीं जिनके बोलने में वाणी का लास्य दीख पड़ता था लेकिन आज भी जो हैं वे सब अनुकरणीय हैं क्योंकि उच्चारण के मामले में आकाशवाणी समाचार के वाचन का आज भी कोई जवाब नहीं है।

अब हम जिस समय में रह रहे हैं वह महामना मालवीय का समय नहीं है जिसमें उनकी हिंदी किसी झरने की तरह पर्वतश्रेणियों से उतरती हुई-सी प्रतीत होती थी। यह समय महापंडित राहुल सांकृत्यायन और आचार्य किशोरी दास वाजपेयी का भी नहीं है जो हिंदी की अपनी विपुल शब्द-सम्पदा के बल पर अगगिनत ग्रंथ लिख सके। और यह समय पंडित विद्यानिवास मिश्र या ‘अज्ञेयजी’ का भी नहीं रह गया है जो जब हिंदी बोलते थे तो बगैर किसी मिलावट के शुद्ध हिंदी ही बोलते थे और मन को मोह लेते थे। आज का समय मिलीजुली भाषा का है जिसे अपनाए बिना हमारा काम बहुत आसान नहीं रह गया है। यह बात उन लोगों पर विशेष तौर पर लागू होती है जो ‘बोलने’ को अपनी आजीविका बनाने का विचार रखते हैं। उनके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वे जिस निपुणता के साथ हिंदी शब्दों का उच्चारण करें उतनी ही निपुणता के साथ अन्य भाषाओं के शब्दों को भी प्रवाह के साथ बोल सकें। यह उनकी व्यावसायिक अनिवार्य आवश्यकता है जिससे वह मुंह नहीं फेर सकते। हिंदी समाचारों बुलेटिन में कोई विदेशी नाम प्रसारित करने से पहले हमारे वरिष्ठ समाचार

वाचक संबंधित दूतावास को फोन करके नाम का सही उच्चारण पूछते से, सीखते थे और स्वयं बोल कर सिखाने वाले को संतुष्ट करते थे उसके बाद ही समाचार में उसको बोलते थे। लेकिन पूछने और सीखने के लिए जिह्वा को ग्रहण करने के लिए पहले से तैयार होना पड़ेगा तभी तो वह बताए जा रहे उच्चारण को दोहरा सकेगी और सीख सकेगी। उच्चारण का यह संकट उर्दू शब्दों को लेकर बहुत पैदा होता है।

उर्दू जिस लिपि में लिखी जाती है उसे अरबिक रस्मूलखत कहते हैं। शब्दों के सही उच्चारण के लिए इसमें अनेक अक्षरों के नीचे नुक्ता लगाना पड़ता है जिसे 'रेफ' लगाना कहते हैं लेकिन उर्दू बोलने का अर्थ यह नहीं है कि आप जहां चाहें रेफ लगा दें। गलत अक्षर के नीचे नुक्ता लगाने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उदाहरण के लिए दो शब्द देखिये- मजाज और मिजाज। मजाज में बाद वाले 'ज' के नीचे रेफ लगा दीजिए, बन जाएगा मजाज अर्थात् जो वास्तव में न हो या भ्रम। वहीं मिजाज में पहले वाले 'ज' के नीचे रेफ लगा दीजिए, बन जाएगा- मिजाज अर्थात् मन की दशा या तबीयत। एक और शब्द देखिए- जिसके हिज्जे हैं जलील। इसमें 'ज' के नीचे रेफ मत लगाइए तो बन जाएगा जलील अर्थात् प्रतिष्ठित, महान और पूज्य लेकिन वहीं अगर 'ज' के नीचे रेफ लगा दी जाए तो यह बन जाएगा जलील जिसका अर्थ होता है-भ्रष्ट, अधम और नीच।

अक्षरों के नीचे नुक्ता लगाने को लेकर हिंदी गद्य के महारथियों में से एक बाबू बाल मुकुन्द गुप्त ने टिप्पणी करते हुए कहा है- 'हिंदी में खाली 'ज' होता है और उर्दू में 'जीम' 'जाल' 'जे' 'ज्वाद' और 'जोय'। 'जीम' के सिवा सब उर्दू अक्षरों का उच्चारण 'जे' के उच्चारण के तुल्य होता है। 'जे' का उच्चारण जिह्वा के ऊपर दांतों के साथ मिलने से होता है। हिंदी में वैसा उच्चारण नहीं, क्योंकि वास्तव में 'जे' का उच्चारण 'जीम' का ही विकार है। वह फारसी वालों के कंठ की खराबी के सिवा और कुछ नहीं। उस खराबी को हिंदी में धंसाने से क्या लाभ? 'जे-जाल' की खराबी उर्दू में यहां तक है कि बहुत से लोग वर्षों शिक्षा पाने और लुगातों (शब्द-कोशों) को कीड़ों की तरह चाट जाने पर भी 'जे-जाल' का भेद ठीक-ठाक नहीं जान पाते। कितनी ही बार वे इस झगड़े में पड़ते हैं कि अमुक शब्द 'जाल' से है या 'जे' से। जब स्वयं उर्दू जानने वालों की (उर्दू में ही) यह हालत है, तो फिर हिंदी को पराए कांटों में क्यों घसीटा जाए?हमारा प्रश्न है कि इस बिंदी से उर्दू न जानने वालों का क्या उपकार होता है? वे कैसे जानेंगे कि किस शब्द के नीचे बिंदी लगानी चाहिए। क्या बिंदी लगा-लगा कर उनके लिए उर्दू शब्दों का कोश तैयार कर दिया जाएगा और हिंदी वाले उस कोश को 'मियां मिट्टू' की तरह दिन भर रटा करेंगे? यदि ऐसा होगा, तो खुदा के फजल से हिंदी उर्दू से भी सरल हो जाएगी और तीन महीने की जगह 'तीन तीए' नौ वर्षों में सीखी जाएगी। और, यदि उर्दू न जानने वालों को बिंदी लगानी ठीक से न आएगी, तो हिंदी में लबड़धोंधों मच जाएगी। कोई बिंदी लगाएगा, कोई नहीं लगाएगा। वृन्दावन निवासी पंडित राधाचरण गोस्वामी ने नागरीकृत 'इश्क-ए-चमन' छापा था। उसमें उन्होंने उर्दू शब्दों में खूब (नीचे) बिंदी की भरमार की थी। यहां तक कि जिन शब्दों के नीचे बिंदी नहीं लगानी चाहिए, उसके नीचे भी लगा दी। स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र उसे पढ़ते-पढ़ते लोट-पोट हो गए थे और कहा था कि 'यह बिंदी की बीमारी हिंदीवालों को अच्छी लगी। यह इनको दूर तक खराब करेगी।'

मान्यवर गुप्त की बात सिर-माथे लेकिन हमें स्वीकार करना होगा कि आज यह बिंदी, हिंदीवालों

की विवशता बनती जा रही है। हिंदीभाषी कोई नवयुवक जब कहीं स्वर-परीक्षा के लिए जाता है तो उसके उर्दू शब्दों के तलफ्फुज (उच्चारण) की जांच-परख की जाती है जबकि उर्दू की किसी स्वर-परीक्षा में हिंदी शब्दों के उच्चारण की कोई परीक्षा नहीं होती। उर्दूभाषी 'परधानमंत्री' और 'राष्ट्रपति' बोलने के लिए स्वतंत्र हैं। उनके पास तर्क है कि उर्दू में आधा अक्षर होता ही नहीं है। हारकर उन्हें राष्ट्रपति के लिए 'सदरे जम्हूरियत' और प्रधानमंत्री के लिए 'वजीरे आला' बोलने की अनुमति देनी पड़ती है। वहीं हिंदी भाषियों से अपेक्षा की जाती है कि उनका 'शीन' 'काफ' दुरुस्त हो। नीति-नियंताओं की यही नीति है। कोई बताए कि इस स्थिति से कैसे पार पाएं हमारे वे नवयुवक जिनकी आवाज अच्छी है, जिनके पास बोलने का शऊर और जो संचार माध्यम के क्षेत्र में अपने लिए कोई नयी राह बनाने की दिशा में प्रयास कर रहे हैं। क्या उन्हें अपने पैर सिर्फ इसलिए पीछे खींच लेने चाहिए कि उन्हें उर्दू के शब्दों का सही उच्चारण नहीं आता? या उनके लिए यह श्रेयस्कर होगा कि वे स्वाध्याय और परिश्रम से उर्दू के शब्दों का सही उच्चारण सीखें और अवसर पड़ने पर किसी उर्दूभाषी से भी अच्छी उर्दू बोलकर दिखाएं। आजकल लोगों के बोलने में एक दोष आमतौर पर देखा जा रहा है। वे अपने बोलने में 'फिर', 'फांसी', 'सफलता' और 'फंसना' शब्दों में 'फ' के नीचे अनावश्यक रूप से रेफ लगा देते हैं जिसके कारण उनके बोलने में बेढंगापन आ जाता है। लेकिन उनके ऐसे बोलने से कम से कम एक बात तो पता लग जाती है कि उनकी जिह्वा को अक्षर के नीचे नुक्ता लगाना आता है, भले ही अभी वे गलत जगह पर नुक्ता लगा रहे हैं। ये लोग अगर सीखें तो बोलते समय सही जगह पर भी नुक्ता लगाने लगेंगे।

और अगर ऐसा हो गया तब वे ही होंगे जो हिंदी में चल निकले गलत शब्द-प्रयोगों को चलन से बाहर कर सकेंगे। वे ही होंगे जो बताएंगे कि 'अगरचे' का अर्थ 'अगर' या 'यदि' नहीं होता, अगरचे का अर्थ होता है 'यद्यपि'। वे ही होंगे जो किसी शोर-गुल और हंगामे वाली बैठक को 'हंगामी बैठक' नहीं कहेंगे क्योंकि वे जानेंगे कि हंगामी बैठक का मतलब होता है- जल्दी में बुलाई गई बैठक। वे ही बताएंगे कि 'हिमाकत' का मतलब हिम्मत नहीं, मूर्खता होता है और वे ही होंगे जो बताएंगे कि 'उन्होंने खुलासा करते हुए बताया' का अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने खोलकर बताया, खुलासे का अर्थ होता है- संक्षिप्तीकरण।

(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार और आकाशवाणी के पूर्व समाचार वाचक हैं)



धर्मवीर : अलग सोचने का साहस

अरुण कुमार त्रिपाठी

डॉ. धर्मवीर को सच्ची श्रद्धांजलि तो यही होगी कि उनका सम्मान करते हुए उनसे असहमत हुआ जाए। निश्चित तौर पर वे जहां कहीं भी होंगे कतई बुरा नहीं मानेंगे। धर्मवीर ने अपने पूरे लेखकीय जीवन में यही तो सिखाया है कि स्थापित शोध, मान्यता और विश्लेषण से असहमत हुए बिना नया रास्ता नहीं मिलता। इसलिए जिससे असहमत हो उससे पूरी शिद्दत से भिड़ो और तब तक शांत मत बैठो जब तक उसे ध्वस्त न कर दो। हालांकि इस टिप्पणीकार का ऐसा इरादा बिल्कुल नहीं है और धर्मवीर से असहमति के बावजूद उनके बारे में वैसा सोचना भी नहीं है।

धर्मवीर जाति व्यवस्था के वर्चस्ववादी सोच के विरुद्ध तो थे ही वे उस दलितवादी विमर्श के भी कायल नहीं थे जो या तो बाबा साहेब के बहाने या फिर फुले और पेरियार के माध्यम से चलाया जा रहा है और उससे जरा सी असहमति रखने वालों को विचलन का शिकार बताया जाता है। उनकी अपनी अलग राह थी जो निजी जीवन के अनुभवों और ज्ञान की कठिन साधना से पैदा हुई थी और उस पर वे लगातार बढ़ते जा रहे थे। इस काम को वे दो तरह से कर रहे थे। एक तरफ आधुनिक दलित चिंतन में सशक्त हस्तक्षेप करते हुए उसके समझौतावाद और कमजोरियों को कांट-छांट रहे थे तो दूसरी तरफ इतिहास में गहरे उतरकर उन पर्वतों और जंगलों में अपने ऋषियों और मुनियों के आश्रम ढूंढ रहे थे जो कालक्रम में कहीं खो गए थे।

पहले क्रम में उनकी जो किताबें शामिल हैं वे हैं:- दलित चिंतन का विकास(2007), दूसरों की जूतियां (2007), तीन द्विज हिंदू स्त्रीलिंगों का चिंतन(2007), चमार की बेटी रूपा (2007), दलित आत्मालोचना की प्रक्रिया (2007), जूठन का लेखक कौन है? डॉ. आंबेडकर के प्रशासनिक विचार (2004), लोकायती वैष्णव विष्णु प्रभाकर 1987, मेरी पत्नी और भेड़िया आदि। इसी क्रम में भाषा संबंधी चिंतन पर उनकी एक किताब है 'हिंदी की आत्मा' (1989)। प्रेमचंद की नीली आँखें और 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' भी इसी श्रेणी में रखे जाने लायक आलोचनात्मक ग्रंथ हैं।

उनकी किताबों की दूसरी श्रेणी वह है जहां वे गहरे पानी पैठकर डूबने से डरे बिना इतिहास से मोती निकालते हैं। जाहिर सी बात है कि इस क्रम में उन्हें कीचड़, सीप, सेवार और पानी के दूसरे जीव-जंतुओं से काफी लड़ना भी पड़ता है और वे वैसा करते भी हैं और दूसरों पर पर्याप्त कीचड़ उछालते भी हैं। कबीर के आलोचक (1997), कबीर के कुछ और आलोचक (2002), कबीर: डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रक्षिप्त चिंतन (2000), कबीर और रामानंद : किंवदंतियां (2000), कबीर

बाज भी कपोत भी पपीहा भी (2000), संत रैदास का निर्वण संप्रदाय 1990, सीमांतनी उपदेश (संपादित) (2004) थेरीगाथा की स्त्रियां और आंबेडकर (2005)।

डॉ. धर्मवीर की विशेषता यह थी कि वे मार्क्सवादी आलोचना से तो असहमत थे ही वे आंबेडकरवादी दृष्टि से भी पूरी तरह सहमत नहीं थे। जाहिर सी बात है कि वे उस उदारवादी आधुनिक चिंतन से तो एकदम सहमत ही नहीं थे जो आलू की तरह हर सब्जी में मिल जाता है। यह उनका सकारात्मक पक्ष था और यही उनका नकारात्मक पक्ष भी। अपनी इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए वे प्रेमचंद की नीली आंखें में लिखते हैं:-

‘मेरी बदकिस्मती है कि अपने युग के कुछ जार दार्शनिकों से मेरा संवाद हो गया है। खुशी इस बात की है कि वह संवाद टकराहट में बदल गया है। मतलब जार दार्शनिक अब किसी को धोखा नहीं दे सकते, चाहे वे किसी भी सामाजिक वर्ग में जन्मे हों। कहना यह है दलित जातियों के पास पर्सनल कानून की इतनी बड़ी मोरल शक्ति थी लेकिन उन्होंने वैचारिक युद्ध में इसका हथियार की तरह से इस्तेमाल ही नहीं किया।’

धर्मवीर अपने व्यक्तिगत संघर्ष को समष्टिगत रूप देते थे और समष्टिगत संघर्ष को व्यक्तिगत संघर्षों से जोड़ते थे। उनकी यही संवेदनशीलता और चिंतन धाराओं को जोड़ने की क्षमता उन्हें चिंतक बनाती थी और यही उन्हें व्यक्तिगत बनाकर उनके चिंतन को खंडित भी करती थी। धर्मवीर के जीवन और चिंतन को हम समाजशास्त्र के पिता कहे जाने वाले आगस्ट कामटे के जीवन से जोड़ सकते हैं जिन्होंने पत्नी की बेवफाई के कारण अपने तमाम सिद्धांतों को बदल ही दिया। काश डॉ. धर्मवीर की पत्नी बेवफा न हुई होती और अगर हुई भी थी तो उन्हें तलाक की छूट देकर मुक्त कर देती तो उनका चिंतन इतने विचलन का शिकार न हुआ होता। लेकिन यह सब हुआ और जाहिर है कि इसमें व्यक्तिगत व्यवहार से लेकर हमारे समाज और नियम कानून का भी कहीं न कहीं दोष है। इन सबका धर्मवीर के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने हिंदू समाज को जारकर्मी और उसके चिंतकों को जार-दार्शनिक जैसे कड़े विशेषणों से संबोधित किया। लेकिन ऐसा नहीं कि उनकी यह बात अचानक निजी अनुभव से ही प्रकट हुई हो। उन्होंने इसके लिए इतिहास और पुराण से तमाम प्रमाण इकट्ठा किए और उनमें उन्हें डॉ. आंबेडकर की उस किताब से भी मदद मिली जिसमें उन्होंने ‘हिंदूवाद की रिडल’ के बहाने राम और कृष्ण के जन्म की प्रक्रियाओं पर भी सवाल उठाए हैं।

अपनी पत्नी के अपने ही छोटे भाई से संबंध हो जाने पर डॉ. धर्मवीर ने तलाक पाने की बड़ी कोशिशें कीं लेकिन हार गए। एक दिन वे बेहद आहत होकर इस टिप्पणीकार से बोले कि देखिए त्रिपाठीजी मैं राजा हूँ। आखिर आईएएस अधिकारी तो राजा ही होता है। लेकिन मैं इस देश के हिंदू कानून के मुताबिक अपनी पत्नी के बेवफा हो जाने के बाद भी उनसे तलाक नहीं ले सकता। उसी के बाद उन्होंने एक समांतर ‘दलित कोड बिल’ तैयार किया और यह साबित करने की कोशिश की कि दलित समाज में तलाक का व्यवहार बहुत पहले से रहा है लेकिन हिंदू समाज में वह नहीं रहा है। इसीलिए चाहे पति-पत्नी घुट घुटकर मर जाएं लेकिन आज भी हिंदू विवाह अधिनियम के तहत तलाक मिलना असंभव है। डॉ. धर्मवीर के निजी अनुभव से निकली यह सोच उन्हें न सिर्फ हिंदूवादियों को जार दार्शनिक कहने तक ले गई बल्कि स्त्रियों का विरोधी भी बना दिया। वे उस आधुनिक सोच से बगावत करते थे जिसमें विवाह के बिना स्त्री-पुरुष संबंधों की इजाजत दी जाती

है और व्यभिचार को जन्म दिया जाता है। वे इस तरह की कमियां कामसूत्र की संतानें लिखकर व्यक्त करते हैं और 'थेरी गाथा की स्त्रियों' में भी उनकी यही सोच व्यक्त होती है।

डॉ. धर्मवीर ने कई दलित लेखकों को यह कहकर आत्मकथा लिखने को प्रेरित किया कि व्यापक भारतीय समाज में दलितों की पीढ़ियां जारकर्म से पैदा हुई हैं और उन्हें उसको दर्ज करते हुए विद्रोह करना चाहिए। उनकी यह सोच अतिवादी हो सकता है और एक हद तक मनोग्रंथि की ओर भी ले जाता है लेकिन यह एक तरफ समाज की जातिवादी हकीकत बयां करता है तो दूसरी ओर जो लोग तीन तलाक को खत्म करने के लिए सबको समान कानून का आंदोलन चला रहे हैं उनके लिए आंखें खोलने वाला हो सकता है। डॉ. धर्मवीर का मानना था कि अगर कोई समान नागरिक संहिता बने तो उसमें तलाक संबंधी कानून पर इस्लामी कानून का ज्यादा प्रभाव रखना चाहिए क्योंकि वहां तलाक पाना आसान है।

एक दलित चिंतक के नाते धर्मवीर दलित समाज की स्त्रियों और पुरुषों की इस तरह की चिंताओं के साथ इस तलाश में बेचैन हैं कि दलितों की मुक्ति का मार्ग क्या हो। इसी कोशिश में वे कबीर को ढूँढ कर लाते हैं और यह कोशिश करते हैं कि कबीर को ब्राह्मणवादी आलोचकों से मुक्त कराएं। जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए झगड़ा करता है या कोई मां अपनी संतान के लिए संघर्ष करती है या कोई किसान अपनी जमीन के लिए लड़ाई लड़ता है वैसे ही धर्मवीर कबीर पर कब्जा जमाए बैठे ब्राह्मणवादी चिंतकों से मरने मिटने की लड़ाई लड़ते हैं। हिंदी साहित्य के लिए अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, डॉ. श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. रामनिवास चंडक कोई मामूली आलोचक और विचारक नहीं हैं। धर्मवीर उन सबसे भिड़ते हैं और उनकी यह लड़ाई बाद में उनकी बाद वाली पीढ़ी के आलोचकों से भी होती है। उनका दावा रहा है कि देखिए मैं कबीर को इन आलोचकों के चंगुल से छुड़ा लाया हूँ। कबीर पर क्रमबद्ध तरीके से किए गए अपने संवाद को देखकर उन्हें बेहद खुशी होती थी लेकिन उन्हें यह देखकर दुःख होता था कि दूसरी पीढ़ी के आलोचकों ने उनकी उपेक्षा की।

एक दिन बेहद दुःखी होकर कहने लगे कि देखिए डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर पर अपनी पूरी किताब मेरे जवाब में ही तैयार की है लेकिन कहीं मेरा उल्लेख नहीं किया है। आखिर यह सवर्ण आलोचकों (और मार्क्सवादी आलोचकों) की बेइमानी नहीं तो और क्या है उन्होंने डॉ. अग्रवाल की किताब की एक एक लाइन पर ट्रेनों निशान लगे रखे थे और यह उद्धृत कर रखा था कि उन्होंने यह बात उनकी किताब में कहां से ली है। बाद में उन्होंने अपनी कबीर वाली आखिरी किताब में उन सबको जवाब दिया है।

कबीर पर धर्मवीर के चिंतन के दो मूल उद्देश्य थे। एक तो कबीर की ऐतिहासिकता को स्थापित करना और दूसरा दलितों के लिए उनके अपने धर्म की तलाश करना। धर्मवीर का मानना था कि कबीर के नाम से जितने पद गाए जाते हैं उनमें बहुत सारे कबीर के नहीं हैं और वे या तो उनके शिष्यों द्वारा तैयार किए गए हैं या उनके मठों पर कब्जा जमा कर बैठे वैश्य और व्यापारियों द्वारा बनाए गए हैं। उन पदों में जिन उपकरणों और वस्तुओं का जिक्र किया गया है वे कबीर के युग की हैं ही नहीं। दूसरी तरफ कबीर के मार्क्सवादी आलोचकों का कहना है कि कबीर एक परंपरा हैं और उनके पदों को उनके शिष्यों के पदों से अलग करने का कोई मतलब नहीं है। लेकिन धर्मवीर

का कहना है कि मिलावट के माध्यम से मूल कबीर को नष्ट किया गया है और उनकी सूर्य जैसी ऊष्मा पर ग्रहण लगा दिया गया है।

लेकिन कबीर के नाम पर हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. रामनिवास चंडक, नामवर सिंह व पुरुषोत्तम अग्रवाल से भिड़ने वाले धर्मवीर की आलोचना महज सवर्ण विरोधी कहकर खारिज नहीं की जा सकती। वे कबीर के लिए डॉ. आंबेडकर से भी असहमत हैं। बल्कि वे बाबा साहेब आंबेडकर से भी असहमत हैं इसीलिए उन्होंने कबीर की खोज की है। यानी वे आंबेडकरवादियों के भी उतने करीब नहीं हैं जितने दलित होने के नाते दिखते हैं। धर्मवीर डॉ. आंबेडकर के बौद्ध बनने और बौद्ध धर्म को दलितों की मुक्ति का मार्ग बताने से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि बाबा साहेब ने दलितों को सही रास्ता नहीं दिखाया। जब दलितों का अपना धर्म पहले से था बाबा साहेब को अलग धर्म अपनाने की क्या जरूरत थी। वह धर्म था आजीवक धर्म। कबीर न हिंदू थे और न ही मुसलमान। कबीर आजीवक थे। यह वही धर्म है जो मक्खली घोषाल का था और संभवतः रैदास का भी यही धर्म था।

धर्मवीर का कहना था कि बौद्ध धर्म चूंकि एक क्षत्रिय द्वारा प्रवर्तित किया गया इसलिए उसमें भी दलितों के मुक्ति की पूर्ण संभावना नहीं है। बाकी जैन और सिख जैसे दो धर्मों के बारे में भी वे यही कहते थे क्योंकि वे सवर्णों द्वारा प्रतिपादित हैं। उनका कहना था कि कबीर दलितों को राह दिखा रहे हैं तो किसी और राह पर चलने की क्या जरूरत है। इसीलिए वे कबीर को सवर्णों के घेरे से निकालते हैं और साबित करते हैं कि वैदिक चिंतन के विरुद्ध कबीर का जो मध्यकालीन विद्रोह है उसे मद्धिम करने के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें महज 'भक्त' साबित करके बैठ जाते हैं और कहते हैं कि कबीर का समाज सुधार से कोई लेना देना नहीं। धर्मवीर इस बात से भी बहुत आहत हैं कि जबरदस्ती कबीर को रामानंद का चेला बना दिया गया और जब-तब उन्हें नीच कुल का और विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से जन्म लिया बताया जाता है। उनका मानना है कि यह वो साजिश है जो साबित करती है कि दलितों के परिवार में कोई चिंतक पैदा ही नहीं हो सकता।

हिंदी के बुद्धिजीवियों और विद्वानों के प्रति डॉ. धर्मवीर की सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि उनमें शोधपरक दृष्टि नहीं होती। वे व्यवस्थित तरीके से संदर्भ नहीं देते और कई बार तो जानबूझकर उपेक्षा करने के लिए किसी का जिक्र भी नहीं करते। ऐसा स्वयं धर्मवीर के साथ बड़े पैमाने पर व्यवस्थित ढंग से किया गया। उन्हें इस बात का बहुत दुःख था। एक बार वे आहत होकर कहने लगे कि अब तो मैं किसी जैसे व्यक्ति से बहस ही नहीं करूंगा जो कम से कम पी-एच.डी. न हो। इसके अलावा बिना संदर्भ के कोई बात होनी भी नहीं चाहिए। धर्मवीर पुस्तकों और शोध प्रबंधों को बारीकी से पढ़ते और उनका उल्लेख तो करते ही थे साथ में अखबारों और पत्रिकाओं में भी छपने वाले लेखों का बाकायदा नाम देकर तिथि और स्थान के साथ उल्लेख करते थे। इस टिप्पणीकार के दो लेख उन्होंने अपनी डीलिट की थीसिस में हूबहू उद्धृत किया था। वे अकादमिक बहस की पश्चिमी परंपरा को मानते थे और जिसको भी काटते थे उसकी पूरी बात रखकर काटते थे।

प्रेमचंद दलितों के लेखक नहीं थे इसे साबित करने के लिए उन्होंने बड़ी मेहनत की और उनकी कहानियों और उपन्यासों का लगभग पुनर्पाठ ही कर डाला। प्रेमचंद की आलोचना करते हुए उन्होंने न सिर्फ प्रेमचंद के जीवन और निजी आग्रहों और पूर्वाग्रहों को खंगाला बल्कि उनकी हर कहानी का

इस तरह से विश्लेषण किया कि प्रेमचंद का दलितवाद ध्वस्त सा होता दिखने लगा। 'रंगभूमि', 'कफन', 'घासवाली', 'सद्गति' और तमाम कहानियों और उपन्यासों के भीतर घुसकर यह साबित करने की कोशिश की कि अगर प्रेमचंद वास्तव में दलित समर्थक होते तो वे ऐसा नहीं लिखते। हालांकि यहां यह सलाह दी जा सकती है कि बेहतर होता प्रेमचंद की इतनी आलोचना करने की बजाय धर्मवीर स्वयं ही दलित साहित्य का सृजन करते। पर वे आलोचना और विमर्श के रचनाकार थे और वह उनसे साहित्य लिखना संभव नहीं था। हालांकि यह सुझाव जरूर दिया जा सकता है कि धर्मवीर में थोड़ा संयम तो संभव था लेकिन शायद उनसे वह भी संभव नहीं था। उन्होंने जहां कबीर के आलोचकों को ध्वस्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी वहीं प्रेमचंद को मटियामेट करने में कोई हथियार बाकी नहीं रखा। प्रेमचंद पर लेखन के माध्यम से उन्होंने स्वामी अछूतानंद को स्थापित करने की कोशिश की जो उनका बड़ा योगदान है। यानी उस किताब का बाइप्रोडक्ट ज्यादा महत्वपूर्ण है जब उन्होंने प्रेमचंद को सामंत का मुंशी लिखा तो इस टिप्पणीकार ने उसकी हिंदुस्तान में समीक्षा की। उस समीक्षा का शीर्षक था-- 'आलोचना के वीर और उनका धर्म।' शीर्षक बहुत तीखा था। वैसे ही जैसे वे स्वयं लिखते थे- अशोक बनाम वाजपेयी= अशोक वाजपेयी। लेकिन उन्होंने मेरी टिप्पणी का बुरा नहीं माना। शायद किसी किताब या आलोचना में उसका जिक्र किया हो। लेकिन पता नहीं क्यों वे इस टिप्पणीकार को अपना मानते थे। वे हमें ब्रात्य कहते थे। वे हमें उदार हिंदू मानते थे। लेकिन यह भी जानते थे कि हम पूरी तरह से उनके साथ नहीं खड़े हो सकते। इसलिए कहते थे कि डॉ. लोहिया बात तो ठीक करते थे लेकिन जब वे राम, कृष्ण और शिव की प्रशंसा में व्याख्यान देने लगे वहीं उन्होंने गड़बड़ कर दी पर धर्मवीर मानवीय बहुत थे। शायद उनके मन में मौजूदा व्यवस्था और उसके आख्यानों के प्रति जो गुस्सा था वह इसीलिए था कि यह व्यवस्था मानवीय नहीं है। इसमें स्वतंत्रता पाखंड है और समानता का पाखंड है। उनके साथ दिल्ली के शकरपुर के जनता शू स्टोर में बिताए गए क्षण भुलाए नहीं जा सकते। एक बार वे गाजियाबाद के वसुंधरा में रहने आए और श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने मुझे उनसे मिलने के लिए आमंत्रित किया। मैं गया तो सुबह नाश्ता न करने के कारण मेरी सुगर गिरने लगी और चक्कर आने लगा। वे अकेले थे लेकिन अपनी रसोई में गए और मिठाई और सेब लेकर आए। खुद काटा और मुझे खिलाया। धर्मवीर को मैंने कभी अफसर के रुआब में नहीं देखा। कभी गाड़ी, घोड़ा का जलवा दिखाते नहीं पाया जबकि वे केरल सरकार में सचिव रह चुके थे।

धर्मवीर के प्रचुर लेखन का एक मोती उनकी किताब 'हिंदी की आत्मा' है। वह पुस्तक उन्होंने राजभाषा आयोग का सचिव रहते हुए तैयार की थी। जिन्हें भी हिंदी में पत्रकारिता करनी हो, प्रयोजन मूलक हिंदी पर काम करना हो या फिर भाषा संबंधी चिंतन करना हो, उन्हें वह किताब जरूर पढ़नी चाहिए। उस किताब से स्थापित होता है कि धर्मवीर महज दलित चिंतक ही नहीं थे। वे हिंदी के बड़े हितैषी थे। धर्मवीर फैशनेबुल दलित चिंतकों की तरह अंग्रेजी देवी की पूजा करने वाले नहीं थे। वे हिंदी के ही उपासक थे अब चाहे उसे कोई देवी कहे या देवता। इस किताब के माध्यम से उन्होंने स्थापित किया है कि संविधान के अनुच्छेद 351 में जो 'हिंदी के जीनियस' की अवधारणा दी गई है वह बहुत महत्वपूर्ण है और हिंदी को उसी के आधार पर अपने शब्द निर्माण करने चाहिए। उसे सिर्फ संस्कृत से शब्द नहीं लेना चाहिए। उसे अरबी फारसी, अंग्रेजी और देशी भाषाओं से शब्द लेना

चाहिए। उनका कहना है कि यह दावा करते रहने से बहुत अन्याय हुआ है कि हिंदी संस्कृत की बेटी है। वे व्यंग्य में कहते हैं कि अगर हिंदी बेटी है भी तो बेटी को विवाह करके विदा कर दो उसके साथ उसकी मां को मत भेजो। हिंदी को अपना घर बसाने दो। अपने भाषा संबंधी चिंतन में धर्मवीर ने डॉ. रामविलास शर्मा और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की बड़ी मदद ली है और उन्हें बहुत सराहा भी है। किशोरीदास वाजपेयी के बारे में उनका यह कथन बहुत मौजूं लगता है कि हिंदी में बहुत सारे वैयाकरण हुए लेकिन पाणिनि की तरह किशोरीदास वाजपेयी हिंदी के पहले प्रामाणिक वैयाकरण हैं। धर्मवीर यह साफ तौर पर कहते हैं कि हिंदी शब्द निर्माण करती है लेकिन किसी भी शब्द को लिखने और गढ़ने से पहले उसे सामान्य व्यक्ति से बुलवाकर दिखवा लेना चाहिए। अगर वह बोल पाता है तो शब्द चलेगा और अगर नहीं बोल पाता है तो वह शब्द या तो शब्दावली में पड़ा रह जाएगा या शब्दकोश की शोभा बढ़ाएगा। इस तरह वे डॉ. रघुवीर की हिंदी की असफलता के कारणों का लंबा विवेचन करते हैं। उनका साफ कहना था कि हिंदी छोटे वाक्यों और सरल शब्दों की भाषा है उसमें पांच अक्षर से छोटे शब्द ही रखने चाहिए। अपने भाषा चिंतन में वे एक क्रांतिकारी सुझाव देते हैं और कहते हैं कि सूरदास और तुलसीदास को साहित्य के पाठ्यक्रम से निकाल देना चाहिए और उनकी जगह पर गालिब और मीर को पढ़ाया जाना चाहिए।

धर्मवीर से आप असहमत हो सकते हैं और होना भी चाहिए क्योंकि उन्होंने हमें यही सिखाया है पर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते लेकिन आजकल उनके साथ वही किया जा रहा है। कोई भी समाज अपने मौलिक चिंतकों को दरकिनार करके आगे नहीं बढ़ सकता न ही उन पर लीपापोती करके और उनकी पूजा करने से उसका कोई लाभ होगा। यह हिंदी समाज की तो विडंबना है ही यह भारतीय समाज की भी विडंबना है कि वह मौलिक चिंतकों से भयभीत रहता है या उनकी पूजा करने लगता है। हालांकि भारतीय समाज की चिंतन और विमर्श की लंबी परंपरा है और धर्मवीर या बाबा साहेब आंबेडकर लौटकर उस परंपरा में काफी लंबी दौड़ लगाते हैं। धर्मवीर का चिंतन अभी जरूर उपेक्षित और तिरस्कृत है और उनके प्रति इस तिरस्कार के इस अभियान में न सिर्फ मार्क्सवादी और सवर्णवादी बौद्धिक शामिल हैं बल्कि दलितवादी भी उसी जोर शोर से उपस्थित हैं। यही धर्मवीर की मौलिकता है और यही उनकी ताकत है। इतिहास गवाह है कि जिस भी विचारक में आग होती है वह देर सबेर कभी न कभी धधकती जरूर है।

(लेखक सुप्रसिद्ध पत्रकार और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में एडजंक्ट प्रोफेसर हैं)



डायरी

आत्म की सघन पहचान और परछाइयां

राजकुमार गौतम

29 अगस्त, 2012, केंद्रीय विहार-2, (नोएडा का घर) प्रातः 09.45 बजे

यूं तो कई दिनों से बारिश ने गजब ढा रखा है मगर आज तड़के से तो बादलों ने काली चादर तानकर, बिजली की दहाड़ें सुनवाकर ऐसी झमाझम मचाई हुई है कि कतई कपर्पू लगा रखा है। बाहर बंदा एक नहीं दीखता है। इसी घनी-अंधियारी रात के चलते सुबह जगा देर से और फिर चाय-कॉफी के बावजूद और भी सुस्ती।

राजेंद्र यादव कृत पत्राचार की किताब 'अब वे यहां नहीं रहते' (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-236) सुबह ही पढ़कर समाप्त की है। राजेंद्र यादव का मोहन राकेश, कमलेश्वर और नामवर सिंह के साथ पत्र-व्यवहार इसमें शामिल है। शायद 'उपलब्धता' (पत्रों की) इस पुस्तक की सीमा रही हो या फिर सावधान संपादन कि पत्रों में काफी कुछ अच्छा-अच्छा-सा है। 'लेखकीय अंतरसंवादों का जीवंत दस्तावेज' बताने वाली यह पुस्तक कम-से-कम उन हिंदी साहित्यकारों के लिए पढ़ना जरूरी है जो खुद को जनूनी लेखक कहलाना पसंद करते हों। हालांकि मैं स्वयं साहित्य की इतर विधाओं को जिनमें पत्राचार भी शामिल है- पढ़ने में रुचि रखता हूं तो भी यह किताब इस बात को स्थापित करने में काम आती लगती है कि पत्र-लेखन का कार्य भी रचनात्मक छटा लिए हो सकता है। किताब का सबसे बड़ा हिस्सा मोहन राकेश के पत्रों के नाम है और यह शायद डिजर्व भी करता है। जिस सावधानी से वह भावुकता और आलोचनाओं के बीच का पुल निर्मित करते हैं- वह 'कला' इन खतों में देखी जा सकती है। निजी जीवन से लेकर साहित्य की धोबी-पछाड़ दांव लगाने की नीयत हो या फिर भावी योजनाओं की परिणति तक जाने की दौड़...! सबमें एक मजबूत और उल्लसित करने वाला, परिपक्व इरादा दिखाई पड़ता है। ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि राकेश ने किसी पत्र के माध्यम से कुछ हिसाब-किताब फैलाया हो या पूरा किया हो। मन का भटकाव और लेखन की तड़प उन्हें कहां-कहां नहीं दौड़ाती; मगर वह आदमी 'आखिरी चट्टान तक' पहुंचकर ही दम लेता है। राकेश के पाठक यदि उनके लेखन में व्यंग्य के छौंक की कमी महसूस करते हैं तो एक बार ये पत्र पढ़कर राकेश के हास-परिहास की क्षमता को जान सकेंगे।

बरक्स इसके कमलेश्वर के पत्र थोड़ा कामकाजी लगते हैं। मगर फिर भी किसी षडयंत्र-निर्माण की घटना में वे शामिल होते हैं- ऐसा आभास कहीं भी नहीं मिलता है। हां, सफाई करते और कराते हुए ये पत्र एक-दूसरे के काम करने के प्रति अधिक प्रतिबद्ध हैं। बाहरी दुनिया जितना कमलेश्वर

के साथ राजेंद्रजी की मित्रता को जानती है- उस ऊष्मा या तापमान को इन पत्रों में नहीं पाया जाता है।

हम जैसे कथा-कहानी से टुच्चे रूप में जुड़े लोगों को शायद डॉ. नामवर सिंह और राजेंद्र यादव के आरंभिक वर्षों (विगत सदी का छठा दशक) की अंतरंगता विस्मित करते हुए आकर्षित करेगी। पढ़ने और लिखने की चाह का तालमेल इन दोनों में जैसा मिलता है- वैसी जुगलबंदी तो पूर्व के दोनों मित्रों के साथ भी अवतरित नहीं होती। डॉ. रामविलास शर्मा की चर्चा भी अकसर इन पात्रों के केंद्र में आ जाती है। सोचता रहा कि यदि उनके भी कुछ पत्र यहां होते तो अच्छा रहता। पता लगता कि कालांतर में जो ये विद्वान समकालीन हिंदी साहित्य के धुरंधर सिद्ध बने, उनके सम्यक निर्माण का परिदृश्य कैसा था। राजेंद्र यादव कभी पी-एच.डी. करना चाहते थे या कि उनके पिता की मृत्यु आकस्मिक हृदयाघात से हुई या कि उनकी छह बहनें, चार भाई हैं या कि उन्होंने कोलकाता में 'ज्ञानोदय' में दो-दो बार काम किया या कि उन्होंने 'विश्व साहित्य' नाम से (शायद आगरा में) एक प्रकाशन शुरू किया था और उसमें डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' प्रकाशित की थी या कि भदंत आनंद कौसल्यायन ने 'पच्चीसवां घंटा' नाम के किसी बहुत अच्छे उपन्यास का अनुवाद किया है या कि माथेरान (शायद मुंबई के पास) करके बहुत छोटी-सी एकांत जगह है जहां सर्दी के महीने काफी अच्छे होते हैं। यहां के 'अज्ञातवास' में मोहन राकेश, स-अनीता औलक जाते हैं... आदि-आदि 'नई बातों का पता लगता है इस पुस्तक को पढ़कर। लंबी-चौड़ी भूमिका लिखकर राजेंद्र जी ने इस किताब को और भी खोल दिया है। इस किताब को तैयार करने में बलवंत कौर ने जो आत्मीय सहयोग दिया- वह भी काबिले तारीफ है।

यह संयोग ही कहिए कि कल ही राजेंद्र यादव ने अपने जीवन के 84वें वर्ष में कदम रखा है। उनका जन्मदिन कल धूमधाम से दिल्ली में मनाया गया, यह खबर आज के (नेशनल दुनिया) अखबार में है। औपचारिक बधाई देना तो मुझे आता नहीं, मगर यह अवश्य है कि इस आयु में भी उनकी सोच में प्रखरता है, उनमें काम करने का जो अनुशासन है और सारी दुनिया को अपना बना लेने की जो अपरिमित आकर्षण की सत्ता है- उसकी वजह से समकालीन हिंदी साहित्य की देह का काफी बड़ा हिस्सा अनुप्राणित है। जिंदगी की कमजोरियों और कारगुजारियों की 'प्रदर्शनी' लगाते हुए राजेंद्र यादव शायद सर्वाधिक विश्वसनीय 'कॉन्फेसर' हैं। अब से छह दशक पहले किए गए पत्राचार के प्रकाश में देखें तो आज के राजेंद्र यादव के 'बीज' वहां दिखाई पड़ते हैं। पत्नी और संतान वाले 'परिवार' को अंशतः छोड़कर (या छूटकर) उन्हें जो विस्तृत साहित्य प्रेमी, विचारपसंदों का परिवार मिला है- उसका असली 'महत्व' हमारे मध्यवर्गीय माइंडसेट में आज शायद न आ सके मगर भविष्य के गर्भ में प्रवेश करने वाले हर क्षेत्र के 'आउटस्टैंडिंग' व्यक्तित्व की यह जरूरत होगी। व्यक्ति में वैयक्तिक दुर्बलताएं हो सकती हैं- कई तरह की रूहानी और जिस्मानी भूखों से वह आकुल-व्याकुल रह सकता है मगर उसके 'सार्वजनिक योगदान' से कौन और कब इनकार कर सकता है? और फिर ये नैतिक मूल्यों के प्रमाण पत्र देने वाले हम कौन हो सकते हैं? समाज जैसे-जैसे लोगों को बनाता है, अपने स्पेस में उन्हें रहना-बसना भी सिखाता है। हमें शिरोधार्य करना है जो व्यक्ति विशेष की उस खास देन को, जिसके लिए वह संघर्ष करता रहा। और पिछले तीन दशकों से दूर बैठकर मुझे जितना दीखता है- राजेंद्र यादव जीते हैं तो अपने संघर्ष, साहस, जिजीविषा और दिमाग की अचूक

ताकत से। उनके 84वें जन्मदिवस पर मैं लिखकर ही उन्हें बधाई दूँ तो कैसा रहे।

अभी पुस्तकालय से लाई एक और किताब पढ़ना बाकी है- आल्बेय कामू के जीवन पर आधारित प्रभा खेतान की कृति 'वह पहला आदमी' अगस्त, 2012 के शेष दिनों में यह भी पढ़कर समाप्त हो जाए तो लक्ष्य पूरा हो।

26 अक्टूबर, 2012, केंद्रीय विहार-2, नोएडा, प्रातः 10.20 बजे

पढ़ने की लालसा(ए) कितने दिनों से लंबित हैं, जब से रिटारमेंट लिया है, भूखों की तरह यहां-वहां से चीजें उठाकर पढ़ता हूँ। पुस्तक रूप में एक लंबे पाठ को हाथ में लेना तो जैसे अफोर्ड ही नहीं कर पा रहा हूँ। बस, छिटपुट पत्रिका- अखबार या इंटरनेट पर जो खोज सकता हूँ, वही। पढ़ने के बाद यहा तो नहीं रहता कि क्या पढ़ा, मगर यह अवश्य लगता है कि वह अवचेतन में कहीं न कहीं संचित तो होता ही होगा। इस गुप्त संचयन का परिणाम तभी सामने आता है जबकि आप कुछ लिखने बैठते हैं, किसी सभा-सोसाइटी में वार्तारित होते हैं या फिर कहीं वक्तव्य आदि दे रहे होते हैं, अपने आप ही से प्रश्न किया जा सकता है कि यदि स्मरण-पात्र आपका लघुआकारी है तो फिर विस्मृति का फिसलन में व्यर्थ करने के लिए किसी रचना-पाठ की जरूरत क्या? मैंने अपने से यह सवाल पूछकर देखा तो पाया कि (नंगी भाषा में) जिस प्रकार आपको समागम में देह का आध्यात्मिक किस्म का दुलार मिलता है, जो अंतःस्थल को असीम शांति देता लगता है तो उसी प्रकार का अहसास अच्छी किताब या किसी स्वतंत्र रचना को पढ़ना भी है।

मनोमस्तिष्क को जिस तरह का आनंदपरक आस्वाद मनपसंद चीजें पढ़कर मिलता है, उसके सम्मुख संचयन करने का लालच, घटिया किस्म का स्वार्थ ही लगना चाहिए। क्या बेहतर स्वाद को आज तक कोई शब्द दे पाया है? उस अनुभूति के आसपास का चित्रण तो किया जा सकता है पर उसका सजीव वर्णन अकल्पनीय है। रचना-पाठ का सुख भी वैसा ही है। हजारों क्रिकेट मैच मैंने (और सबने) देखे होंगे, उनका कितना अंश आज मेरे दिमाग में है, शून्य के बराबर। फिर भी उन क्षणों का रोमांच और उत्सुकता, जिज्ञासा तो महासमंदर की तरह भीतर ही भीतर लहराता है। इसलिए 'पढ़ना' टाइमपास या वक्तकटी नहीं है बल्कि यह उद्देश्यपरक जीवन जीने की एक कला का ही अन्य रूप है।

नौकरी में सैंतीस साल और गृहस्थी के टंटों के दलदल में जितना समय लगा, उसकी क्षतिपूर्ति जीवन के शेष (यदि हैं तो) वर्षों में कदापि संभव नहीं। फिर भी कोशिशों को उन्नीस तो न होने दूंगा।

11 दिसंबर, 2012, केंद्रीय विहार-2, नोएडा, प्रातः 10.35 बजे

मैं जानता हूँ कि क्षितिज दूर है, और असत्य भी। मगर मैं यह भी जानता हूँ कि उस छोर पर ही जीवन के सुंदरतम आकर्षणों की बस्ती है। आकांक्षाओं का साकार रूप-स्वरूप भी वहीं उपस्थित है। शारीरिक और मानसिक स्तर पर उम्र के आक्रमणों का प्रभाव जो भी हो चला हो, मगर मन तो लगता है जीवन की सार्थकता के बीज तलाशने और रोपने में ही। कर्मसिद्धि न अर्जित हो मगर मनसिद्धियों की छवि को धूमिल होने से बचाकर रखा ही जाए।

विगत लगभग दो सप्ताह से इधर-उधर के दुनियादारी के दंद-फंदों में व्यस्तता रही। लिखने-पढ़ने- दोनों ही स्तरों पर दूरी। निष्क्रियता। दिन छोटे हैं और सुबह जागने का समय भी

(जान-बूझकर) कुछ बढ़ा दिया गया है। सर्दी का जलवा अलग है। निजी और साहित्य कार्यों की पेंडेंसी बढ़ती ही जा रही है। उदासी की वजह भी बेकामी की कोंपले उगाती है। साढ़े चार माह हो चले हैं- स्वतंत्र लेखक हुए। सात-आठ रचनाएं भेजी हैं। दो छपी हैं। बाकी के बारे में कोई यह भी नहीं बताता कि उन्हें रचनाएं विचारार्थ भी मिली हैं? ऐसे में कमल की नोंक पर विद्रोह, आक्रोश, निठल्लापन उतर आए तो विस्मय कैसा। महेंद्र भल्ला के किसी साक्षात्कार या आलेख का अंश याद आता है : उन्होंने जब फ्रीलांस लेखक होकर जीवन गुजारना चाहा तो शायद छह महीने के बाद किसी रचना के पारिश्रमिकस्वरूप चालीस रुपये का भुगतान उन्हें मिला था। यह दशकों पहले की बात थी। मेरा रिकॉर्ड तो शायद शून्य ही रहने वाला है।

खैर, मन में जिद जगाकर कल 'हंस' के ताजा अंक से दो-चार चीजें पढ़ीं।

पिछले सप्ताह कामतानाथजी का देहांत हुआ। 78 वर्ष कैसर 'कालकथा' उपन्यास (जो कि मैंने पढ़ा नहीं है) की लंबी रचनात्मक साधना से उनकी साहित्य-समर्पणता का पता लगता है। उनके एक कहानी-संग्रह 'समुद्र तट पर खुलनेवाली खिड़की' की समीक्षा 1975 के आसपास मैंने 'सारिका' में की थी। हो सकता है कि स्मृति में यह बात गड़बड़ हो मगर इस क्षण तो ऐसा ही याद आ रहा है। उनके साथ बैठकी या लंबी मुलाकात हुई हो, याद नहीं पड़ता। सिवाय एक बार के जब कि बलराम और उनके साथ दिल्ली गेट की लालबत्ती के साथ वाले पार्क में कुछ देर हम लोग बैठे थे। हां, सन 1980 में जब मेरे पहले कहानी-संग्रह 'काले दिन' की दिल्ली में राजस्थान सूचना केंद्र में गोष्ठी हुई थी तो बाद में पता लगा कि कामताजी कुछ देर के लिए वहां आए थे। चूंकि बलराम, कामतानाथजी को अपने आरंभिक दौर का शुभाकांक्षी लेखकीय संरक्षक मानते रहे हैं, इसलिए हम लोगों की मुलाकात होने पर अन्वियों के साथ कामतानाथजी का जिक्र आ ही जाता है। कुछ दिनों पहले आईपैड पर अखबार देखते हुए मैंने उनके कैसरग्रसित होने की खबर देखी थी और फिर फोन पर बलराम से भी बात की थी। बीमारी की अवस्था और गंभीरता के बारे में बलराम ने 'डॉक्टर्स के जवाब देने!' की बात बताई थी और फिर एक सप्ताह भी बीता नहीं कि....।

वारिष्ठ लेखक जा रहे हैं लगातार, कुछ की रवानगी 'कन्फर्मर्ड है तो कुछ 'वेटिंग' में हैं। आरएसी वाला टिकट भी कुछ के पास तो होगा। तत्काल का प्रावधान तो होता है ही। जैनेंद्र, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, मन्मथनाथ गुप्त, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी.... कितने-कितने दिग्गज तो चले गए। हिंदी में आ तो रहे हैं नए लेखक बहुत-से, मगर जिस बैंड-बाजा के साथ उनका आगमन हो रहा है, वह स्थिति स्पॉन्सर्ड ज्यादा प्रतीत होती है। साहित्य की दीवानगी उन लोगों में ज्यादा होती है जो महानगरों से दूर किसी सुवासित-सी इस गलतफहमी में कि वे महान हैं, अपना लिखना-पढ़ना चालू रखते हैं। जिस किसी ने साहित्य के हमाम में प्रवेश किया, वह कम-से-कम लिखने से तो गया समझो। साहित्य के अन्तःपुर के दृश्य काफी वीभत्स, अश्लील और अतिक्रमण की मर्यादाओं को लांघते-फलांघते होते हैं और इनमें रत रहनेवाले लेखकगण तत्कालीन साहित्य परिदृश्य के पंडे, दल्ले और कमीशन एजेंट के रूप में काम करते हैं। इसलिए कामतानाथ हों या हृदयेश, काशीनाथ सिंह हों या अमरकांत- इन लोगों के भीतर का साहित्यकार दीर्घ जीवन पाता-भोगता है। इसलिए आवश्यक है कि हम जैसे, जो साहित्य के दलदलों के दंगल में विचरण करनेवाले लेखक प्राणी हैं- साहित्य के 'रेड लाइट एरिया' के अलग के लेखकों की ओर

अधिक ध्यान दें और 'संजीवनी' तरावट से उनकी लेखनी को प्राणदान दिया करें।

27 जून, 2015, केंद्रीय विहार-2, नोएडा, दोपहर 1.30 बजे

इस आलस्य, अनाकार भय, संकोच, अरुचि और तटस्थता-उदासीनता के चलते, तमाम नैराश्य स्थितियों के... अपने लिए चार शब्दों की छांह जुटा लेने का काम आसान नहीं जान पड़ता। मन के प्राचीरों पर अभी भी हसीन सपनों के चंवर डोलते दीखा करे हैं। क्या फर्क पड़ जाएगा यदि आप कुछ लिख लेंगे या नहीं लिख पाएंगे- में की स्थितियों में। क्या अर्थपूर्ण या अर्थहीन रह जाने वाला है? इधर, देखते-देखते कई सक्रिय लेखकों की आंखें मूंदते ही वह इति हो गए। नाम लेवा, न पानी देवा कोई।

जैसे चीन के सस्ते माल से दुनिया के कई देश पाट दिए गए हैं, वहां के स्थानीय उत्पादकों को खाली बैठाकर, इसी तरह का 'चीनी माल' साहित्य के बाजार में भी घुस आया है। प्रतिदिन के लेखन, प्रकाशन, विमोचन से अनेक स्वयंभू कवि त्रिलोचन हुए जा रहे हैं और असली त्रिलोचन शास्त्री हिन्हीं अव्यक्त स्मृतियों, अनपढ़ी पुस्तकों आदि में कैद हैं। रास्ते दो ही हैं- या तो सहमकर शांत रहा जाए, या फिर सभी प्रकार की ताकत, ऊर्जा को झोंककर इस सबका मुकाबला किया जाए। कोई संतोषजनक कथ्य या तथ्य सामने आए तो मैं प्रसन्न हो सकूँ। अभी तो कुढ़ना ही कुढ़ना हाथ में है। किसी लेखक के साथ बैठकबाजी करता हूँ तो अपनी कर्महीनता के उल्लेख पर मुस्कराकर रह जाता हूँ। अपनी आत्मा की आवाज या चेतावनी से भी सक्रिय नहीं हो पा रहा हूँ, जबकि जानता हूँ कि आत्मा का विपक्ष नहीं होता। जानता हूँ कि रचना ही मेरे जीवन की प्रामाणिकताएं हो सकती हैं। ऐसे निजी अंतरंग अनुभव बहुत अल्प हैं जिन्हें मैं सार्वजनिक करने में संकोच करूंगा, वरना तो जीवन के आरंभ से अद्यतन छोर की शाब्दिक यात्रा में किसी न किसी विधा में लेखन करके प्रस्तुत कर ही सकता हूँ। परिणाम सृजन होना चाहिए- यह बात आत्मीयता के साथ प्रकट होनी चाहिए। जीवन की विभिन्न आकृतियों के मध्य स्वयं को रखकर, स्वयं को ही शब्दों में तिरोहित कर दें तो कोई बात बने। वरना तो मुझे लगेगा कि मैं अपने पाठक के साथ कुछ भी साँझा नहीं किया।

01 जुलाई, 2015 केंद्रीय विहार-2, नोएडा, प्रातः 8.50 बजे

रचना का अंकुरण एक संयोग-जैसा लगता है। मानो आप प्रकृति के तमाम कोने खोलकर सैर कर रहे हों, किसी ऐसे लोक की जिसमें आपकी परिचित दुनिया हो, उस दुनिया में आपकी कल्पनाओं का रासायनिक घोल आप पर तारी हो। उदारता और हृदयविशालता के वरदान से परिपूर्ण हों आप और शब्दों में सृजनता ऐसे अवतरित हो रही हो मानो एक शालीन मगर तेज मेहजल में सराबोर हों, रचना के पूर्व आपको उत्तेजना ही नहीं, मानो कामुकता भी चाहिए होती है। देह के सारे अंग झनझनाकर अपनी संपूर्ण त्वरा में किसी चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ते हुए लगे मानो।

इसके बाद जो बचता है, वह है रचना की जिजीविषा- नोंक-पलक से संवारी और संभाली जाती हुई। रचना के लालन-पालन में मां का दूध शामिल हो जाए तो क्या ही कहने। अर्थात् उत्तेजन, ऊर्जा, उत्थान, उत्कंठा, उत्साह और उत्पात की संयुक्त उपज का नाम है- रचना। और यह संतान की तरह है। आपके मौजूदा दुःखों को बढ़ाने का स्रोत भी हो सकती है और आपको असमर्थ जन्मदाता भी सिद्ध कर सकती है। शायद सही वक्त पर अपनी रचनात्मक प्रतिभा को हिट करने का अवसर जिन लोगों ने 'अवेल' किया, वही सर्जना के भागीरथ प्रयास के अधिकारी और उत्तराधिकारी बने।

व्यक्तिगत रूप से मैंने सृजन क्षणों को गंवाने की क्षति को खूब झेला है। कभी विवशतावश तो कभी प्रमादवश भी। उदासीनताओं का दौर भी प्रायः पड़ता रहा और अनेकानेक विधाओं में अजन्मी रचनाओं में मुख्य बांझ की भूमिका का निर्वहन भी मैंने किया। इसका अफसोस जरूर है मगर, पश्चाताप करने का अवसर अभी पूर्णतः निष्प्रभावी नहीं हो गया है। अपने अकेलेपन में जो हजार-हजार प्रकाशपुंज चहुं ओर दमदमाते और दीप्त हुए दीखते हैं- इस छटा से तो मन करता है कि दुनिया के कलाकारों-कलमकारों को दिन-रात अभिनंदित ही करता रहूं।

17 जुलाई, 2015 केंद्रीय विहार-2, सुबह 10.00 बजे

पिछले दिनों हिंदी के एक अनोखे गद्यकार महेंद्र भल्ला का निधन हो गया। दिल्ली की साहित्य विरादरी में वह एक 'उछला हुआ नाम' कभी भी नहीं रहे। पहले फेसबुक की वॉल पर और फिर 'जनसत्ता' आदि एकाध अखबार में खबर दिखी। संभवतः चार उपन्यास उनके हैं और एक कहानी-संग्रह भी। 'एक पति के नोट्स' और 'उड़ने से पेशतर' उनके उपन्यास मुझे पसंद रहे हैं। 'उड़ने से पेशतर' पर एक समीक्षा मैंने लिखी थी जो संभवतः 'नवभारत टाइम्स' के रविवासरीय परिशिष्ट में छपी थी। कन्हैयालाल नंदन तब परिशिष्ट के प्रभारी संपादक थे और बलराम उनके सहायक।

महेंद्र भल्ला का गद्य मुझे बहुत पसंद आ रहा है। गोविंद मिश्र द्वारा संपादित एक कथा-संग्रह 'स्थितियां रेखांकित' में शायद उनकी कहानी 'कुत्तेगिरी' संकलित है। इसमें 'नाक' के लिए 'मूँछ के ऊपर रखी दुनाली' पद का उपयोग किया गया था। उनके एक उपन्यास में नायक लंदन में बाथटब में 'पानी की गरम रजाई' में घुसता है। 'एक पति के नोट्स' में स्टेडियम में बैठकर क्रिकेट मैच का लुत्फ उठाते पात्र हैं।

महेंद्र भल्ला से मेरी एकमात्र मुलाकात उनके जनकपुरी, दिल्ली स्थित घर पर हुई। मुलाकात की अन्य डिटेल्स मैं यहां सार्वजनिक नहीं करना चाहता। उनके अंतिम प्रकाशित उपन्यास ('तीसरा देश...' या कुछ ऐसा ही शीर्षक है, जो जयपुर के किसी प्रकाशनगृह से प्रकाशित है) के पूरा होने के बाद। भरी पूरी गृहस्थी से चहचहाता उनका घर था। चाय हुई और उन्होंने अपने नए इस उपन्यास की रचना-प्रक्रिया बताते हुए कहा था कि इस उपन्यास को लिखते हुए उन्होंने स्वयं को 'कैद' कर लिया था। नेल्सन मंडेला तब वैश्विक राजनीति के पटल पर थे, तो उन्हीं की सत्ताईस वर्ष की कैद का उदाहरण देकर महेंद्र भल्ला बता रहे थे कि उन्होंने मंडेला को प्रेरणा-पुरुष माना और स्वयं को उपन्यास लेखन के लिए वर्षों एक कोठरी में सीमित रखा।

दिल्ली को साहित्य का केंद्र और गढ़ मानने वाला सारा हिंदी संसार महेंद्र भल्ला की चिर अनुपस्थिति पर भी वैसे ही मौन है, जैसे कि उनकी उपस्थिति पर रहा था।



ईमा बाजार यात्रा के देखे-सुने कुछ दृश्य, कुछ अनुभव

प्रेम कुमार

ईमा बाजार (इंफाल) में बर्तनों की दुकान लगाकर बैठी वह एकदम युवा-खूबसूरत महिला बोले जा रही थी- 'यहां आपसे सब कोई हिंदी में ही तो बात किया न। पुराना तो ज्यादा नहीं, पर नया तो खूब समझता-बोलता है हिंदी। मगर यह तो जरूर कि हम सब मणिपुरी की बात करता है- करेगा भी। इस बाजार का आप पूछा- ये बाजार मेरी मां- मेरी दादी से भी पहले। आपको कोई बताया क्या कि जब बहुत पहले यहां शॉप नहीं होता था... हां, हमारी दादी यह बताया- तब बहुत पहले के जमाने में एक बाजार सुबह लगता था और फिर एक शाम को। बाद में दोनों का मिलकर एक हो गया और उसका नाम ख्वैरम बंद बाजार हो गया।'

माता प्रसादजी और उनके साथ के वे दो प्राध्यापक दुकान-दुकान रुककर जिस तरह से मोल-भाव करने में जुटे थे, उससे लग रहा था कि अभी कम से कम एक घंटे में तो वे इस बाजार से बाहर नहीं निकलने वाले। लोभ जागा कि इंफाल के बाजार के कुछ और हिस्सों को भी देख लिया जाए। यशवंत से कहा तो तुरंत तैयार। माता प्रसादजी से साढ़े बारह बजे तक गाड़ी पर पहुंच जाने की कहकर हम दोनों ईमा मार्केट के पिछले हिस्से से एक अलग दिशा में चल दिए थे। सड़क के दोनों ओर बने ऊंचे से उन फुटपाथों पर अपनी-अपनी दुकान लगाए बैठी महिलाएं। दुकान का मतलब जरा-जरा सी थालियों-परातों में रखा उनका ना कुछ-सा सामान। किसी में चने, किसी में मटर, किसी में खाने का कुछ और सामान। इतने भर को बेच लेने के बाद कितना कमा लेती होंगी ये आखिर? क्या एक आदमी का पेट भर सकने लायक? या फिर किसी एक घर या परिवार के पाल-चला सकने लायक? जो भी हो पूरे इस बाजार में कहीं कोई उदासी नहीं दिखी जरा-सा भी भय या तनाव नहीं दिखा। अपरिचय या नफरत जैसा भी तो इतने बड़े इस बाजार में लेशमात्र कुछ कहीं नहीं दिखा। जिससे भी बातें कीं- उसने भरपूर हँसी दी- मुस्कान दी। सब तरफ सहज-प्रसन्न एक सादगी। सुंदर-सी श्रमशीलता दिखी, आत्मविश्वास दिखा और वर्तमान में निर्विकार भाव के साथ जी सकने-जीते रह सकने की मणिपुरी महिलाओं की अपनी तरह की क्षमता और शक्ति दिखी।

कुछ कदम ही आगे बढ़े थे कि मजेदार-सा वह अजीब नजारा दिखा। सफेद शर्ट पहने ट्रैफिक पुलिस का-सा एक जवान। एक रिक्शा, उसका चालक और रिक्शे में बैठे तीन युवक। पुलिस वाला लगातार गुस्से में कुछ बोले जा रहा है। हाथ में लगे डंडे को कभी हैंडिल पर मारने लगता है तो कभी पीछे मुड़े लेते श्रेड वाले हिस्से पर। दूसरी ओर से उसके गुस्से का कहीं कोई विरोध नहीं, कोई प्रतिरोध

नहीं। रिक्शाचालक पैडलों पर पैर टिकाए बुत-सा बना चुप खड़ा है। तीनों युवक ऐसे निरासक्त-से बैठे हैं सीट पर जैसे वह सब उनके रिक्शेवाले के साथ नहीं, किसी अन्य के रिक्शेवाले के साथ हो रहा है। आती-जाती भीड़ में से तो किसी को जैसे वह सब होता दिख ही नहीं रहा था। न कोई एक पल को वहां रुका, न जाते हुए जरा भी ठिठका। रुकना यशवंत भी नहीं चाह रहे थे, लेकिन मेरे आगे न बढ़ने ने उन्हें जबर्दस्ती रोक ही लिया। दूसरी तरफ से कोई उत्तर न पाकर पुलिस वाले का पारा एकदम से चढ़ गया था। न जाने क्या अंटशंट-सा बकता हैंडिल को पकड़े-पकड़े रिक्शे को पीछे धकियाए जा रहा था। उतने उस बोझ को लिए खड़ा रिक्शा जब पीछे नहीं खिसका तो पुलिसवाला और अधिक लाल-सुर्ख हो उठा। रिक्शेवाले ने अब शायद खुशामदी अंदाज में रिरियाते-से कुछ कहा है लेकिन सब व्यर्थ- पुलिसवाले ने उस रिक्शे को लौटवाकर ही उसका पीछा छोड़ा। ऐसे इस नजारे की वजह तलाश रहा था तब मेरा मन। शायद तीन सवारी के कारण- शायद इस समय उस रास्ते से रिक्शा लाने-ले जाने की अनुमति न हो...। तीसरी शायद के सोचने से पहले तो एक और दृश्य उपस्थित हो गया था हमारे सामने। वही हम। वही सड़क। सिपाही भी वही लेकिन रिक्शा दूसरा, उसका चालक दूसरा और उसमें तीन नहीं केवल डेढ़ सवारी बैठी है। छोटे एक बच्चे के साथ केवल एक महिला। सिपाही इस बार भी रिक्शे का हैंडिल थामे उसके सामने अड़ा-सा खड़ा है लेकिन अब वो गुस्से में नहीं है। रिक्शे में बैठी महिला से फुसफुसाता-सा कुछ बतियाए जा रहा है। रिक्शेवाले ने पैर पैडलों पर रख छोड़े हैं। गर्दन मोड़े पता नहीं पीछे का क्या देखे जा रहा है। जैसे वह सब उसके रिक्शे की सवारी के साथ नहीं, किसी गैर के रिक्शे की सवारी के साथ हो रहा है। महिला ने कंधे पर लटके पर्स की हँसते हुए चेन खोली है। ऐसे देख रही है जैसे कुछ तलाशा जा रहा हो। हो सकता है सिपाही पर्स में रखे सामान को चेक कर रहा हो। लेकिन नहीं- जरा देर बाद औरत ने पहले जैसी हँसी के साथ अपना हाथ पर्स से निकालकर सिपाही की ओर बढ़ाया है। सिपाही का हाथ हैंडिल छोड़ महिला की ओर बढ़ा है। महिला की मुट्ठी तक जाकर झटके के साथ पीछे लौटा है और फिर जमीन की ओर ले लटक गया है। सिपाही सपाट-से अपने चेहरे को लेकर आगे बढ़ गया है और रिक्शा अपनी दिशा में सामने की ओर चल दिया है। महिला और रिक्शा चालक के बीच कुछ बातचीत शुरू हुई है। इतनी दूर थे कि सुन नहीं पाए लेकिन पास भी होते तो क्या? सुन लेते लेकिन भाषा के चलते समझ ही नहीं पाते।

अचानक मुंह से निकला- अरे, यह उगाही का खेल यहां भी। यशवंत ने कहा- जी, यह सब तो यहां खूब चलता है।

- तो फिर आतंक और उग्रवाद के नाम पर की जाने वाली उगाही पर इतना सब हो हल्ला?
- नहीं सर, यह उगाही तो उस उगाही के मुकाबले कुछ है ही नहीं...!

मन में आया कि कहां पर सोचकर ही रह गया- 'यशवंत, दुनिया की सारी उगाहियां अपने से किसी बड़ी उगाही के लिए ही की जा रही हैं। इन उगाहियों का- ऐसे धतकरमों का रिश्ता नदियों और समुद्र का-सा है। कुछ समुद्र है जिन पर चंद लोगों का कब्जा है और उन्हीं में जाकर इन सारी उगाहियों को मिल-रम जाना है। उसके बाद फिर उन्हें कोई पहचान-पकड़ ही नहीं पाएगा।'

दाहिने मुड़े तो देखा बहुत सारे लोग सड़क के किनारे बनी दुकानों के आगे निकले हिस्से पर बैठे हैं। दुबले-पतले, बदहाल-से। कपड़े-लत्तों में दिखती उनकी फटेहाली। सड़क-किनारे लाइन में

खड़े अनेक रिक्शे, उनके चालक। यशवंत से उनके बारे में जानना चाहा तो मालूम हुआ- जी, ये सब बिहारी हैं। आपने इनकी बातचीत पर ध्यान नहीं दिया। ये सब हिंदी में बोल रहे थे। हिंदी को लेकर थोड़ा कुछ हो-हल्ला इनकी वजह से भी है। सब मजदूर हैं। गरीबी के मारे हैं।

गरीब न होते तो सारे हिंदुस्तान में- और बाहर के देशों में भी क्यों जी-भटक रहे होते बेचारे। घर से दूर ऐसी ये तंगी-गरीबी, जीतोड़ मेहनत और उस पर भी हर जगह फजीहत-मुसीबत और किल्लत। देश में भी- विदेशों में भी।

यशवंत ने उंगली के इशारे से सड़क के उस पार देखने के लिए कहा है- 'ये देखिए, यहां इस होटल में रुके थे हम पहली बार जब आए थे यहां यूनीवर्सिटी में इंटरव्यू देने के लिए। डर- डरे हुए तो थे ही- मगर नौकरी की बात और वो भी सेंट्रल यूनीवर्सिटी में। आने से पहले यहां के कुछ परिचितों से पूछा था। उन्होंने ही बताया था कि यह इलाका थोड़ा सेफ है। मारवाड़ी धर्मशाला में ठहरने की सलाह दी थी। जी- वो वाली.... वो सामने ही तो है मारवाड़ी धर्मशाला। ये श्रीमद्भागवत कथा का बैनर लगा है। आवाज आ रही है यह। कोई आयोजन हो रहा है इस समय भी। इसके पीछे गुरुद्वारा है। जी, सब हैं यहां पंजाबी, मुस्लिम, हिंदू, जैन...।'

अनायास, अचानक मुंह से निकला- 'हां, सब हैं यहां। ये सब... और आतंकी उग्रवादी भी।' हंसी के नन्हें, शरारती से दो टुकड़े एक साथ हवा में उड़े-तैरे।

कुछ देर हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। कुछ आगे बढ़े तो यशवंत ने मेरा हाथ थामकर एक दुकान की ओर चलने का आग्रह किया। मुझे यह खरीदना नहीं था। समय से लौटने का भी ख्याल था लेकिन यशवंत जिद-सी पकड़ गए- 'आपको यहां की शॉलों की वैरायटी दिखाते हैं। दुकान मालिक जैन हैं। बहुत वैरायटी हैं इनके यहां। यहां के हस्त कौशल के हिसाब से आप इन्हें देखें। पसंद आए तो ले जाएं घर। अच्छा, अच्छा ठीक है देख लें। नहीं लेना तो कुछ कह देंगे।

दुकान पर पहले समय की दुकानों की गद्दी जैसी एक जगह। उस पर बिछी उजली, धुली सफेद चादर। वहां रखी पुराने जमाने के मुनीमों वाली एक संदूकची। संदूकची के ऊपर बही की तरह की पतली एक कापी। गद्दी पर आसीन एक युवक। उसके पीछे की दीवार लगे फोटो की तरफ ध्यान गया। उस फोटो के ठीक ऊपर एक और फोटो। तरह-तरह के शॉल-सूट्स देखे। बेडशीट्स देखी। उन पर कढ़ाई, कपड़ा फटने पर भी कढ़ाई के जस का तस रहने तथा बुनाई के साथ ही कढ़ाई और डिजाइन डालने से संबंधित मणिपुरी स्त्रियों की कारीगरी के कौशल की देर तक प्रशंसाएं सुनी। फिर गाउन दिखाए गए- जी, ये नागा स्टाइल... ये नागा डिजाइन।' नागा शब्द के सुनते ही अंदर-अंदर कुछ हुआ। कई सवालोंने एक साथ सिर उठाने की कोशिश की- नागा, यानी कि...। चलने से जरा पहले दुकान मालिक से दीवार पर टंगे उस फोटोज के बारे में जानना चाहा- 'जी, मेरी पीढ़ी से तीन पीढ़ी पहले हमारा परिवार राजस्थान से यहां आया था। जी, वो वाला फोटो हमारे पिताजी का है और उसके ऊपर वाला वो गुरुजी का है।' सुनकर थोड़ा अजीब लगा। यानी यहां पूर्वोत्तर के इस राज्य में भी आस्था-पूजा और धार्मिकता का रूप लगभग मैदानी प्रदेशों जैसा ही है। वैसा ही भाव, वैसी ही इच्छाएं- कामानाएं और गुरुओं-महात्माओं के नाम पर सम्मान से झुक-लेट जाने वाली ये मुद्राएं। पूछा आप जैन हैं फिर इस तरह की यह पूजा और भक्ति का ऐसा यह भाव और रूप? बड़ी शान से बताया गया कि नहीं हम जैन नहीं, शर्मा हैं। जैसे शर्मा होने ने उन्हें भक्ति के नाम पर मनचाहा

करने- जीने की छूट दे रखी थी।

आगे का बाजार कुछ और बड़ा दिखता सा। सड़क भी कुछ अधिक चौड़ी और साफ। अच्छी-खासी भीड़। तेज धूप और गर्मी में छाता लगाए, पसीना पौछती खरीददारी को निकली ये भीड़-पुरुषों की महिलाओं की। खूब व्यस्त बाजार। दूर तक ध्यान से देखा-दूँढ़ा। पूरे उस बाजार में केवल एक सिपाही दिखा। वह भी न होने जैसा। बेमतलब इधर से उधर घूमता-भटकता-सा। हाथ में कोई हाथियार नहीं। केवल पुलिसिया एक डंडा। जिज्ञासावश यशवंत से पूछ लिया- 'यहां इस भीड़ में-बाजार में केवल एक सिपाही और यूनीवर्सिटी के उस हिस्से में सुरक्षा बलों के जवानों की पूरी भीड़ की भीड़। हाथों में हथियार और खूब ज्यादा-सी उनकी मुस्तैदी?'

यशवंत ने जवाब तो दिया मगर ऐसे जैसे कि मेरे उस पूछने का कोई खास मतलब और महत्व ही न हो- 'हां, वो अधिकारियों की सुरक्षा के लिए। वहीं उधर ही तो हैं बड़े-बड़े सब नेताओं के दफ्तर और आवास...। इधर वैसे तो ऐसा कुछ होगा नहीं। अगर हुआ भी तो फिर शुरू हो जाएगी सुरक्षा के नाम पर उनकी मनमानियां। यहां तो उग्रवादी भी ऐसा कुछ नहीं करना चाहते। उन्हें भी तो करनी होती है यहां से उगाही।'

यशवंत ने कुहनी छूकर मुझे रुकने को कहा है। सामने की एक दुकान की ओर चलने का आग्रह किया है। मैंने समय से गाड़ी पर पहुंचने का ध्यान उन्हें दिलाया है। मेरा कहा शायद उन्होंने सुना ही नहीं। सुना भी है तो जताना नहीं चाहा कि सुना है- 'आइए सर, आपको इन जैन साहब से मिलवाते हैं। बड़े नेक इनसान हैं। बच्चों को यहां लाने के बाद इन्हीं की दुकान के सामान से हमारी किचिन चलाना शुरू हुई थी।' बर्तनों और रसोई के सामानों की काफी बड़ी-सी एक दुकान। गोरे, औसत कद के दुकान-मालिक एक ग्राहक को समझाने में व्यस्त हैं। हमें देखकर वहीं से बैठने का इशारा किया। दो-तीन बच्चे सामान ला-लाकर ग्राहकों को दिखाने में लगे हैं। ग्राहक से निपटकर जैन साहब हमारे पास आए हैं। यशवंत ने परिचय कराया है और बताया है कि इन डॉक्टर साहब को आपसे कुछ बातें करनी हैं। जैन साहब के निष्प्रभ से उस चेहरे का तेज जैसे कुछ और कम हो गया है। चर्चा मणिपुर में जीने-रहने की स्थितियों के दिन-ब-दिन दुश्वार होते जाने से शुरू हुई थी। बातें होते-होते स्थिति यहां तक आ पहुंची कि अभी तक की डरी-सहमी-सी जैन साहब की आवाज अब डगमग-डगमग भी होने लगी- 'जी, 1919 तक का तो प्रमाण है हमारे पास। हमारे फोरफादर और फादर का। तब का साइकिल पर अंग्रेजों द्वारा लगवाए जाने वाला बिल्ला हमारे पास है। उस पर 1991 लिखा है। तब से तो हम हैं ही यहां। जी, फिरोजाबाद से आए थे। जी, बहुत कम जाना होता है अब। वैसे ससुराल आगरा में है। नहीं, कहां? बहुत कम, कभी-कभी। नहीं, बच्चे यहां आना ही नहीं चाहते। बेटा बंबई में, बेटा सूरत में है।' कुछ तो है कि जरा पहले ग्राहक से ढंग से बातें कर रहे जैन साहब जैसे अब संत्रस्त-सी एक लाचारी जीते दिख रहे हैं। आवाज में हताश-सी एक एक निराशा, अनिश्चित-सा एक दिशाभ्रम- 'हम पर अब चारा क्या है? कहां जाएं अब इस उम्र में? सारी उम्र तो यहां रहे।... नहीं.. क्यों नहीं, बहुत अंतर आया है पिछले कुछ समय में यहां।

यकायक बोलना रोककर चौंके सहमे-से मेरे चेहरे की ओर देखने लगे हैं। जैसे मेरे इरादे को पढ़-भांप लेना चाह रहे हों। देखने के उस दौर में यशवंत के बताए की जैसे पुष्टि कर लेनी चाही है उन्होंने 'तो आप प्राध्यापक हैं...। यहां के नहीं हैं, अलीगढ़ से आए हैं। अच्छा, लिखते भी हैं कुछ।'

शायद अब उनकी हकलाहट कुछ कम हुई है- 'जी, अंतर- है ही कहां प्रशासन। अधिकारी खुद डरते हैं। शामिल है आतंकी गुटों के खेल में। सबसे ज्यादा मुसीबत में व्यापारी है यहां। जी- जान का हमेशा खतरा। कब क्या हो जाए किसी के साथ कुछ नहीं पता। क्या? खतरा? कौन से आतंकवादियों से। नहीं, अब तो पूरी एक इंडस्ट्री बन गया है यहां उग्रवाद और आतंकवाद। नहीं- हम करें भी क्या? ठीक है, यहां हमारा समाज है। सब एक-दूसरे के दुःख में शामिल होते हैं लेकिन यदि दूसरे किसी के साथ कुछ होता है तो देखकर भी बीच में कोई नहीं पड़ना चाहता। देख भी लें तो जताएंगे- बताएंगे नहीं किसी को कुछ। इसलिए कि कहीं हम ही न बन जाएं अगला निशाना। और क्या धमकियां भी, वसूलियां भी। कैसे क्या-पहले- बहुत पहले चिट्ठियां आना शुरू हुई फिर फोन आना शुरू हुए और अब मोबाइल हैं। और जब तो ये भी कि आपके पास आए और अपना मोबाइल थमाकर कहें कि लो बात करो। और उधर से फिर...। हां, हां, सुरक्षा-वुरक्षा तो क्या-पर यहां होते हैं तो लगता है कि फोर्स है, सिक््योरिटी है। यहां से जाते ही फिर वही सब- डर, चिंता, आशंका। बड़े और ज्यादा पैसे वालों की या छोटे लोगों की उतनी मुसीबत नहीं है, जितनी मध्यवर्ग की- व्यापारी की है। बड़े लोगों के कांटेक्ट्स हैं। पैसे देने की हालत भी है। छोटे वाले वैसे उनके निशाने पर उतने नहीं हैं- और उनमें होंठ खोलने की हिम्मत भी नहीं है। उनमें से तो उल्टे कुछ लोग उनके काम भी आते हैं। बाकी का ये कि वो जब चाहें, बंदूक चला दें, बम छोड़ दें। डराएं- मारें। कोई नहीं बोलेगा बीच में।

जैन साहब का चेहरा सुर्ख-सुर्ख-सा हो चला था। दूर- कहीं और देखती उनकी आँखों की चमक में भी कुछ इजाफा दिखा था। उनका बोलना भी अब अंदर से आ रही आवाज की तरह अनवरत जारी था। उस बोलने से जैसे उनके अंदर का न जाने कब-कब का रूका-दबा काफी कुछ बाहर आ रहा था- 'वैसे आप देखिए- कोई दिन नागा नहीं जाता कि कहीं कोई घटना न हो। जी, इसी बात का कि अगर कहीं कुछ हुआ तो वहां के कुछ लोगों ने एक जगह होकर उन्हें समझाने की कोशिश की कि यहां ऐसा मत करो... पर सब बेकार। यहां सबका कोई न कोई कांटेक्ट है उनसे। कम या ज्यादा, सीधे या औरो के जरिए। और कौन-हां, नेता लोग। वो भी तो नहीं चाहते कि चैन हो। नहीं, कहीं आना-जाना नहीं रह गया है। पहले जब हम पढ़ते थे तो साइकिल से बीसियों-पचासियों मील तक घूमने-पिकनिक पर चले जाते थे... पर अब दिन छिपते ही घर में कैद। दिन निकले तो यहां दुकान पर आ बैठो। बस, यह जिंदगी रह गई है हम लोगों की। नहीं- हम तो जो हैं सो हैं, कम परेशान यहां के लोग भी नहीं हैं। उनको पैसा चाहिए और पैसे की भूख के आगे अपना-पराया कुछ नहीं होता। रोज-रोज कि ये करो, ये मत करो- डर तो लगता ही है। पर हां, जो सुविधाएं हमें यहां हैं, कहीं और कहां मिलेंगी? सुविधाएं देखते हैं तो यहां को मन....। यहां तो रह ही रहे हैं... पर हां, पर जब आसपास कहीं कुछ हो जाता है तो फिर...। आप ये समझो कि आपने शेर-बकरी वाली कहानी सुनी है? छह दिन बकरी को खूब चुगाते लेकिन सातवें दिन शेर के सामने लाते ही उसका सब खाया-पिया बराबर हो जाता। वैसे ही ठीक वैसे ही हमारा समझो आप....।'।

सामने की दीवार पर लटकी घड़ी में बारह बीस हो रहे थे। समय से गाड़ी पर पहुंचने की चिंता ने तंग करना शुरू कर दिया। जैन साहब की देह-भाषा से भी लग रहा था कि वो अब थक रहे हैं। आभार जताते-जताते चलने की इजाजत मांगी। चलने को हुए ही थे कि थोड़े भारी शरीर और

दरमियाने कद वाले एक युवक ने दुकान में प्रवेश किया। दुष्यंत को देख आदर के साथ 'प्रणाम सर' कहा। दुष्यंत ने बताया कि जैन साहब के छोटे भाई हैं। परिचय जानकर उसने रुकने, चाय पीकर जाने का बहुत आग्रह किया, किंतु अन्य साथियों द्वारा इंतजार किए जाने की बात कहकर हमने माफी मांग ली। दुकान से बाहर आने को कदम बढ़ाए ही थे कि जैन साहब की एकदम बदल गई-सी वह आवाज सुनाई दी। एकदम घबराई सी गीली-भीगी आवाज- 'आपने आज पूछा तो इतना सब कह गए हम। आपको जाना है- वरना हम कुछ और बताते। आपको मालूम नहीं है हम तो खुद भुक्त भोगी हैं...। मैं चौंका। यशवंत भी चकित थे। हठात् मुंह से निकला- भुक्त भोगी? मतलब?'

'मतलब ये कि...।' रूके-रूके इंतजार किया कि शायद अब कुछ बोलें कि अब बोलें। देर तक कोई शब्द नहीं। निगाह उठाकर जो सामने देखा, मन को कई आशंकाओं ने आ घेरा।' यह भय है या कुछ और? जैन साहब का चेहरा यकायक फक्क पड़ा-सा पीला-पीला क्यों हो गया है? उनका छोटा भाई जो प्रसन्न सा दिख रहा था अभी तक, जैन साहब के कहे को सुनकर सन्न-सुन्न-सा क्यों हो गया है? चेहरा एकदम चुसा-निचुड़ा-सा हो गया है इसका और आँखें बिलकुल सूखी-बुझी सी, रोई-रोई-सी- 'जिजी- इसे ले गए थे...। और किसलिए- पैसों के लिए। और क्या जोड़-तोड़ की। सौदा हुआ। कितना-क्या, वो सब छोड़ो। और क्या- लाख- दो लाख उनकी नजर में क्या है। हां, तीन दिन में लौटाया।' हांफने लगे हैं जैन साहब। जैसे इतना कहने में बहुत जोर लगाना पड़ा है उन्हें। उनके छोटे भाई से सीधे कुछ जानना चाह। बहुत पूछने पर मुश्किल से दिए गए दो-दो, चार-चार शब्दों वाले उत्तर। बेजान हो चली-सी देह। बेदम- मुरझाया- सा चेहरा। डरी-डरी-डरी सी बीच-बीच में टूटती आवाज। काफी कुछ को हाथों-इशारों से बताने की कोशिश... और क्या? नहीं- वैसे तो ज्यादा टॉर्चर नहीं। पर हां, आखिरी दिन ज्यादा। यही- जैसे राइफल मुंह में दूंसना, गालियां, धमकाना-पीटना। वैसे भी हालत क्या कम बुरी थी- पर तब तो बस...।'।

दोनों भाई काउंटर से पीठ सटाए खड़े थे। गर्दन झुकी हुई। मातमी हुए-से चेहरे। एकदम अबोले। हम दोनों के मुंह से भी कोई एक शब्द नहीं निकल पाया था तब। जल्दी-सी दिखाते मातमी-सी मुद्रा बनाए-बनाए हम दोनों वहां से चले आए थे। एक पल को लगा कि जैसे वे दोनों अपने किसी अत्यंत प्रिय-निजी की लाश के पास खड़े हुए थे तब- और हम जैसे किसी परिचित आत्मीय की मौत पर अफसोस जताकर उसके परिजनों के पसा से लौट रहे थे।

गाड़ी तक पहुंचने के उन तमाम अबोले क्षणों में दिमाग में एक आंधी-सी चलती रही थी लगातार। कुछ था अंदर जो उबल-उफन कर बाहर फैल-फूट जाना चाह रहा था। 'कमाल है। हमारी ये सरकारें, सुरक्षा की तमाम कवायदें, इतने सारे तामझाम- और आदमी के अंदर के एक-एक पल के अनगिन-अनगिन भय। लानत है ऐसी इस व्यवस्था पर। जैन साहब जैसे किसी एक आदमी की तो भला औकात ही क्या है, जब सत्ताओं-सरकारों तक ने आतंकी संगठनों से कुछ ले देकर जैसे-तैसे अपनी नाक बचाई है। हमारी तो हमारी- अन्य राष्ट्रों तक की सरकारों ने कितनी ही बार आतंकियों के साथ बातचीतों और समझौतों के नाम पर अनेक आतंकवादियों को उनकी शर्तों पर छोड़ा है, उनके द्वारा अगवा किए अफसरों-जवानों या आमजनों को छुड़वाने के लिए बहुत बार छिपा-बताकर बहुत कुछ लिया-दिया है। इससे बड़ी शर्म की बात किसी शासन या व्यवस्था के लिए भला और क्या हो सकती है। समानांतर सरकारें और क्या करती होंगी इससे ज्यादा। कहां नहीं है ऐसे ये हालात? कहीं

कम, कहीं ज्यादा। कहीं किसी रूप में कहीं किसी रूप में- प्रकट या अप्रकट-घोषित या अघोषित। पूर्वोत्तर में ही नहीं- कश्मीर से कन्याकुमारी तक। कहीं घोटालों-महाघोटालों के रूप में, कहीं भ्रष्टाचार अपराध-आतंक के रूप में। कहीं ठेके हैं, कहीं अतिक्रमण है, कहीं अधिग्रहण है, तो कहीं सूर्यो-चंद्रों तक के ग्रहण हैं, पूरे आसमान के ग्रहण हैं, पूरी धरती पर ग्रहण हैं। जब आम आदमी अपनी जरूरतों और सुरक्षा के लिए ऐसी इन उग्र-आतंकी-असामाजिक गतिविधियों में लिप्त ताकतों पर निर्भर करेगा तो फिर सत्ता और शासन का अर्थ और मूल्य ही क्या रह जाएगा। तो क्या उन पर निर्भर रह नहीं रहा है हमारा यह समाज? हां, हमारे ये पक्षी-विपक्षी नेता यहां आकर रहें। यहां अपने काम-धंधे चलाएं तब तो कोई बात है। सेना भेजने-उतारने से ही सब कुछ हो सकता होता तो दुनिया में आतंक-आक्रमण के शिकार रहे दर्जनों-दर्जनों देशों-प्रदेशों में बरसों-बरस बाद अब चैन-अमन आ ही गया होता।

लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 7888048765, 09422386554

‘कर्मवीर’ की कर्मभूमि -खंडवा

उर्मिला शुक्ल

‘चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं।
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊं।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊं
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इतराऊं
मुझे तोड़ लेना बनमाली!
उस पथ पर देना तुम फेंक!
मातृ भूमि पर शीश झुकाने !
जिस पथ जाएं वीर अनेक!’

पुष्प की अभिलाषा

माखनलाल चतुर्वेदी की ये कविता मैंने अपने स्कूली जीवन में पढ़ी थी। वो उमर ऐसी नहीं थी कि मैं इसके भावों की गहराई को समझ पाती। पर न जाने क्यों ये कविता बचपन के साथ पीछे नहीं छूटी, बल्कि मेरे साथ साथ चलती रही और मेरे जेहन में मेरी उमर के साथ साथ बड़ी होती हुई महाविद्यालय तक आ पहुंची थी। चतुर्वेदीजी की और भी कई कविताएं हैं जो मन को छूती रहीं हैं। सच तो ये है कि उनका पूरा जीवन ही राष्ट्र को समर्पित रहा है। सो उनकी रचनाओं में देश प्रेम और देश के लिए त्याग और बलिदान की तो एक अजस्र धारा ही बहती है। पर उनके रचना संसार को याद करते हुए मन पर ये कविता बार बार दस्तक देती रही। कहने को तो ये एक छोटी सी कविता है मगर इसका असर? इसका असर कबीर के ‘कबहुं न उतरे खुमार’ की तरह था।

उस समय जीवन का लक्ष्य तो पढ़ना और परीक्षा में पास होना ही था। मगर भीतर शायद कोई डोर बंध चुकी थी जो मुझे बार बार अपनी ओर खींचती ही रहती थी।

फिर दूरदर्शन का जमाना आया और दूरदर्शन ने देश की आजादी के लिए दी जाने वाली कुर्बानी को याद दिलाने के लिए इसी कविता को चुना। अब तक मुझमें कविता की कुछ समझ भी आने लगी थी। सो अब ये मुझे बेचैन करने लगी थी। मन करता कि उस माटी का स्पर्श करूं जिसने इस कविता को जन्म दिया मगर वो समय था जीवन समर में उतरने का। सो मन की मन में ही रह गयी। पर इसे मेरा सौभाग्य ही कहा जाएगा कि मुझे जो कर्मभूमि मिली, हां! इसे मिलना ही कहेंगे; क्योंकि सरकारी नौकरी में कर्मभूमि चुनने का अधिकार ही कहां मिलता है। तभी तो हमारे पूर्वजों

ने खेती को उत्तम मानते हुए इसे अधम मानकर त्याज्य कर रखा था-‘उत्तम खेती मध्यम बान । निपट चाकरी भीख निदान । फिर जमाना बदला और नौकरी हमारे जीवन का आधार ही बन गयी । कारण हमारी शिक्षा पद्धति ने तो हमें इस लायक छोड़ा ही नहीं कि हम और कुछ कर पाते । तो चाकरी ही एकमात्र उपाय बची थी । सो अपनी चाकरी के चलते मैं बिलासपुर जा पहुंची थी ।

बिलासपुर! यानी मेरी कर्मभूमि, जिसने मेरे भीतर ‘कर्मवीर’ की कर्मभूमि को, उसकी माटी को छूकर, उसके स्पर्श को अपने भीतर उतारने की अभिलाषा जगायी । मैंने सुन रखा था कि छत्तीसगढ़ में स्थित बिलासपुर वो नगर है जिसका संबंध अनेक महान आत्माओं से रहा है और माखनलाल चतुर्वेदी से तो इसका जुड़ाव और भी गहरा रहा है । आजादी की लड़ाई के दौरान सश्रम कारावास मिला था । उन्हें यहां की जेल में रखा में गया था । और उल्लेखनीय तो ये है कि उनकी जिस कविता की डोर मुझसे बंधी थी उसकी रचना भूमि भी बिलासपुर ही है । बिलासपुर जेल । जब अंग्रेजी हुकूमत ने चतुर्वेदीजी की कैद के लिए बिलासपुर जेल को चुना होगा, तब उन्होंने ये कहां सोचा होगा कि उनकी उस जेल यात्रा में भी कुछ ऐसा रचा जाएगा, जो उन्हें तो अमर करेगा ही; उसे सुनने वालों के मन में भी देश प्रेम और बलिदान का जज्बा जगा जाएगा । सो बिलासपुर जाते समय मैं अकेली नहीं थी; वो अभिलाषा भी मेरे साथ थी जो मुझे बार बार ‘पुष्प की अभिलाषा’ की याद दिलाती रहती थी । वो मुझसे कहती थी कि मुझे भी जाना है, जहां की मिट्टी में एक भारतीय आत्मा कहलाने वाले ‘कर्मवीर’ का स्पर्श बसा हुआ है, जहां ‘पुष्प की अभिलाषा ने जन्म लिया था । मगर जिंदगी की जद्दो जहद और नून, तेल, लकड़ी के फेर ने बरसों तक दो किलोमीटर का सफर भी तय नहीं करने दिया था । या यूं कहिए वो क्षण आया ही नहीं था, जिस क्षण में उस पावन स्थल के दर्शन होते । इसके पीछे एक कारण और भी था; जिस स्थल को देखने की चाह मुझे थी, वो कोई साधारण स्थल नहीं था ।

वो कोई मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर नहीं था कि आस्था ने जब जोर मारा, जा पहुंचे । वो आज भी जेल ही था ।

और जेल के भीतर जाना आसान नहीं था । मैंने कई बार कोशिश भी की ; पर बात बनी नहीं थी ।

मेरी नियुक्ति शासकीय महाविद्यालय, सीपत में हुई थी और वहां मुझे राष्ट्रीय सेवा योजना से जुड़ने अवसर मिला था ।

अब मेरी कुछ कुछ आसान हो चली थी । सो मैंने आगामी पंद्रह अगस्त को उस पावन स्थल के दर्शन की योजना बनायी । चूंकि ये मामला विद्यार्थियों से जुड़ गया था । युवा पीढ़ी को आजादी के एक कर्मवीर की उस कर्मस्थली से रूबरू कराने का था; जिसे एक महान कविता जन्मदात्री होने का सौभाग्य मिला था । सो हमें इजाजत मिल गयी थी, महाविद्यालय से भी और जेल प्रशासन से भी । हम बहुत खुश थे । सो नियत समय पर हम सब बिलासपुर जेल जा पहुंचे ।

तीन ओर से घने पेड़ों और ऊंची दीवारों से घिरी उस समय की बिलासपुर जेल बाहर से देखने पर तो एक साधारण जेल ही थी, पर भीतर से वो साधारण तो हरगिज नहीं थी । कारण जेल के भीतरी प्रवेश द्वार पर ही चतुर्वेदीजी की ‘पुष्प की अभिलाषा’ का बड़ा सा पोस्टर नजर आ रहा था । उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में कविता अंकित थी । जेल अधीक्षक गुप्ताजी से मिलने का समय पहले से तय था

और सुखद आश्चर्य ये रहा कि वे हमारा ही इंतजार कर रहे थे। ये एक अनहोनी ही थी। वरना हमारे यहां के अफसर जब तक घंटों इंतजार न करवाएं शायद उन्हें अपना अफसर होना ही व्यर्थ लगता है। वे बहुत ही सहज थे। हम उनके साथ उस कोठरी की ओर बढ़ चले थे जिसमें कभी चतुर्वेदी जी को कैद करके रखा गया था और अब उसे उनका स्मारक बना दिया गया था। उस कोठरी की दीवारों पर भी पुष्प की अभिलाषा के छोटे बड़े कई पोस्टर लगे हुए थे। मैंने उस कोठरी की धरती को स्पर्श किया तो उस स्पर्श के साथ ही मन में एक ओर अभिलाषा ने जन्म लिया था और वो अभिलाषा थी-कर्मवीर माखनलाल चतुर्वेदी की कर्मभूमि खंडवा की यात्रा।

पर खंडवा विलासपुर से बहुत दूर था और वहां तक पहुंचने के लिए कोई सुगम साधन भी नहीं था। खंडवा के लिए न तो कोई सीधी रेल उपलब्ध थी और न ही बस। फिर वो क्षेत्र मेरे लिए सर्वथा अनजान भी था। कहां छत्तीसगढ़ और कहां खंडवा? कहने को तो एक ही प्रदेश के दो नगर थे! मगर एक दूसरे से एकदम ही अलग था। बोली बानी, खान-पान, यहां तक कि पहनावे में भी खासा फर्क था। फिर भी मैंने आशा दामन नहीं छोड़ा और अपनी कोशिशें जारी रखीं। उन दिनों हमारी राजधानी भी भोपाल में थी। सो जब जब भोपाल जाना हुआ मैंने कोशिश की कि मैं खंडवा की यात्रा पर जाऊं, पर यात्रा संभव नहीं हुई। मैं बचपन से सुनती आयी थी कि तीर्थ यात्रा का समय नियत होता है। जब बुलावा आता है तभी जाना संभव हो पाता है। और खंडवा की यात्रा तीर्थ यात्रा ही तो थीं। सो मैं तन-मन और धन से नियत समय का इंतजार कर रही थी। इसी बीच मेरा स्थानांतरण रायपुर हो गया था। फिर रायपुर से वुमन भास्कर अवार्ड के सिलसिले में भोपाल जाना हुआ और वहां मेरी मुलाकात हुई पद्मजा जोशीजी से और उनके मातृवत प्रेम ने मुझे अभिभूत कर लिया था।

पद्मजा जोशी! श्रीकांत जोशीजी की पत्नी यानी माखनलाल चतुर्वेदीजी के परिवार की सदस्य; उनकी भांजा बहू। अब मेरी खुशी का ठिकाना ही नहीं रहा। श्रीकांत जोशी ने अपनी रचनाओं के साथ साथ हिंदी साहित्य को एक बहुमूल्य योगदान भी दिया है; 'माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली'। मैंने पद्मजा जोशीजी से खंडवा में उनके सानिध्य की इच्छा जाहिर की; ताकि मैं चतुर्वेदीजी की कर्मस्थली के दर्शन कर सकूँ। उन्होंने मेरा प्रस्ताव बड़ी सहजता से स्वीकार लिया था और तय हुआ था कि आगामी छुट्टियों में मैं खंडवा जाऊंगी पर अभी भी नियत समय नहीं आया था सो छुट्टियां आती जाती रहीं मगर खंडवा यात्रा नहीं हो सकी। कभी मैं व्यस्त होती, तो कभी वे अपने बच्चों के पास इंदौर होतीं। इस तरह तीन साल और गुजर गए। लगने लगा जैसे खंडवा यात्रा का योग ही नहीं है पर योग बना। अक्टूबर 2015 में उनका फोन आया कि मैं दशहरे की छुट्टियों में खंडवा आ जाऊं। छुट्टियां तो थीं ही सो मैंने उनका आमंत्रण स्वीकार लिया। अब लगभग रोज ही उनका फोन आता वे पूछती कि किस तारीख को और किस गाड़ी से आ रही हो। उन्होंने ही मुझे बताया कि इटारसी से कौन सी गाड़ी मिलेगी हमारे छत्तीसगढ़ से खंडवा के लिए कोई सीधी सेवा है ही नहीं। सो इटारसी से गाड़ी बदलना जरूरी था। अब तक की फोन वार्ता से हमारी निकटता भी बढ़ गयी थी। सो अब वे मेरी आंटी और मैं उनकी उर्मिला हो चुकी थी।

मेरी छुट्टियां महाष्टमी से थीं सो मैंने सप्तमी की शाम को छत्तीसगढ़ एक्सप्रेस पकड़ी। छत्तीसगढ़ एक्सप्रेस तो बस कहने को है, हकीकत में तो ये पैसेंजर ही है। राह में आने वाला शायद ही कोई स्टेशन होगा जहां ये रुकती न हो। पर मजबूरी थी; खंडवा के लिए सुबह जिस गाड़ी का

लिक था, उसका मिलान इसी से हो रहा था। सो नियत समय पर स्टेशन पहुंची, तो गाड़ी एक घंटे लेट। फिर एक से डेढ़। पर प्लेटफार्म पर बैठकर उबने के सिवा और कोई उपाय भी नहीं था। भीड़ इतनी थी कि कुछ पढ़ना भी संभव नहीं था। सो लंबे इंतजार के बाद जब उसकी झलक दिखायी दी, तो राहत मिली। अक्टूबर का महीना था। शाम जल्दी घिर आयी थी। सो कुछ ही देर बाद बोगी में खाने की खुशबू बिखरने लगी थी। सामने की सीट पर एक मारवाड़ी दंपति थे। अचार और मारवाड़ियों का रिश्ता तो बहुत ही गहरा है। सो उनके खाने में शामिल अचार की खुशबू ने मेरा ध्यान खींचा। आम और कच्ची खड़ी मिर्च का अचार था। एक अच्छे सहयात्री की तरह उन्होंने मुझे खाने के लिए आमंत्रित किया। मैंने भी साथ लायी पूरी सब्जी निकाली। आज के इस दौर में, जब जहर खुरानी की घटनाएं अपने चरम पर हैं। आए दिन अखबारों में ऐसी घटनाओं के समाचार छपते ही रहते हैं। फिर भी हमने मिल बांटकर भोजन किया। सच तो ये है कि चंद अपराधियों द्वारा की जाने वाली जहर खुरानी जैसी घटनाएं हमें आशंकित तो करती हैं, पर वे हमारे पारस्परिक सौहार्द को मिटा नहीं पातीं इसीलिए तो हम अभी भी अपने सहयात्रियों पर न केवल विश्वास करते हैं बल्कि उनसे हमारा एक आत्मीय रिश्ता भी बन जाता है। ऐसे कई परिवार हैं जो मुझे यात्रा में ही मिले थे और आज उनसे मेरे पारिवारिक संबंध बन चुके हैं। सो इस बार भी विश्वास की ही जीत हुई थी।

गाड़ी अलसुबह इटारसी पहुंची। ये सौभाग्य ही था कि सामने के प्लेटफार्म पर ही खंडवा की गाड़ी लगी हुई थी। सो कोई दिक्कत नहीं हुई। तब तक आंटीजी का फोन भी आ गया था। मैंने उन्हें बताया कि मैं दशहरा स्पेशल से आ रही हूँ। गाड़ी आगे बढ़ी, स्पेशल होने के कारण स्टापेज भी कम थे। सो गाड़ी बहुत जल्दी निमाड़ क्षेत्र में प्रवेश कर गयी थी। अब बोली- बानी और वेश दोनों बदल चले थे। निमाड़ का इलाका गेहूं उत्पादन के लिए विख्यात रहा है और अब तो ये सोयाबीन उत्पादन में भी अग्रणी हो गया है। हरदा आने वाला था। उनके पिता अध्यापक थे, सो हरदा के कई गांवों में उनका बचपन बीता था और हरदा भी उनका कर्मस्थल रहा है। हरदा को लेकर उनकी ये काव्य पंक्तियां भी लोगों में बहुत प्रचलित रही हैं- 'हिरदा में रहो, हरदा में रहो ----।' कुछ लोग इसे उनके किसी प्रेम संबंध जोड़कर भी देखते हैं। मगर उनके जीवनीकार ने स्पष्ट किया है कि ये पंक्तियां उन्होंने अपने मित्र के लिए लिखी थीं। प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त हरदा, अब छोटी सी जगह नहीं है। ये अब जिला बन चुका है और यहां मध्य प्रदेश की सबसे बड़ी गेहूं की मंडी है। हरदा का संबंध हिंदी साहित्य से हमेशा ही रहा है। अपनी नौकरी के दौरान आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी हरदा में रह चुके हैं। वर्तमान समय में भी कई साहित्यकार हैं जिनका संबंध इससे जुड़ा है। हरदा में गाड़ी रुकी थी। ये स्टेशन तो अभी भी छोटा ही है। प्लेटफार्म पर भी भीड़ ज्यादा नहीं थी। यहां गाड़ी के रुकने का समय कम था सो गाड़ी शीघ्र ही चल पड़ी थी।

राह में कई स्टेशन आते रहे पर हमारी गाड़ी नहीं रुकी। इस बीच आंटीजी के कई फोन आ चुके थे। उन्होंने समझाया था कि खंडवा से पहले जब छनेरा आएगा, तब तुम उतरने के लिए तैयार हो जाना। मैं तुम्हें प्लेटफार्म पर मिलूंगी। अब छनेरा आने वाला था और खिड़की के बाहर एक विशाल जलराशि नजर आ रही थी। बीच-बीच में खड़े पेड़ के टूठ अपनी दारुण कथा कह रहे थे मगर उसे सुनने वाला कोई था ही नहीं। मेरी ही तरह कुछ और लोग भी थे जो उस जलराशि को देख रहे थे। कुछ जानकार लोग चर्चा भी कर रहे थे कि यहां कभी 'हरसूद' नगर हुआ करता था। सात सौ बरस

पुराना था हरसूद। मगर अब उसका नामोनिशान नहीं है। वो नर्मदा सागर यानी इंदिरा सागर बांध के डूबान में आ गया था। दसे बचाने के लिए विराट आंदोलन हुआ जिसके चलते 'हरसूद' का नाम विश्व में प्रसिद्ध तो हो गया, मगर एक डूबे हुए शहर के रूप में। 'हरसूद' के साथ साथ एक भरा पूरा शहर और एक समृद्ध संस्कृति का नामोनिशान ही मिट गया था। मुझे उपन्यास 'डूब' याद हो आया था। मैं डूब में ही उलझी हुई थी तभी किसी ने कहा 'छनेरा' आ गया। मैंने देखा 'छनेरा' एकदम नया स्टेशन और नयी बस्ती। मैंने पढ़ा था कि 'हरसूद' से उजड़े लोगों को यहां बसाया गया था। पर क्या उजड़कर बसना आसान है? नयी पीढ़ी को तो शायद पुराने शहर की याद न भी आती हो; पर पुरानी पीढ़ी? वो तो अभी भी इस विशाल जलराशि में अपना अतीत तलाशती होगी। न जाने कितनों के सुख दुःख की स्मृतियां समायी होंगी इसमें। मैं अपने विचारों में डूबी ही रहती अगर डिब्बे में हलचल न बढ़ गयी होती। खंडवा आने ही वाला था। लोग अपने अपने सामान के साथ गेट की ओर बढ़ रहे थे। मैंने भी अपना बैग उठाया और कतार में लग गयी।

प्लेटफार्म पर उतरते ही मुझे आंटी नजर आ गयी थीं सो मैं उनकी ओर बढ़ चली थी। स्टेशन के बाहर हमने आटो लिया और घर की ओर चल पड़े। खंडवा की बसाहट पुराने तरीके की है। पुराने से मुहल्ले और पुराने तरीके के मकान, जिनकी बाहरी बनावट ही उनके पुराने होने की पहचान थी। ये शहर का सबसे पुराना इलाका था शायद। आंटी का घर बहुत दूर नहीं था। सो हम जल्दी ही घर पहुंच गए थे। ये श्रीकांत जोशी का घर था। पुराने तरीके का दोमंजिला मकान। छत्तीसगढ़ में इसे पटउंहां वाला घर कहा जाता है पर सीढ़ियां एकदम खड़ी और बहुत ऊंची-ऊंची थी; इतनी कि बिना सहारे के चढ़ पाना मुश्किल था। मगर सहारे के लिए लोहे की मोटी सी जंजीर लगी हुई थी। आंटी को तो अभ्यास था सो वे जल्दी से चढ़ गयीं मगर मैं? मुझे समय लगा था; पर जंजीर का सहारा लेकर मैं भी ऊपर चढ़ गयी थी। ऊपर दो कमरे, रसोई और छोटे से आंगन के रूप में पुराने ढब का पूरा का पूरा घर मौजूद था। पुराने ढब की ताखे वाली दीवारें। मोटे-मोटे लाल फर्श की छत और काले पत्थरों का फर्श था। कमरे के भीतर से ही नीचे जाने के लिए लकड़ी की बनी सीढ़ी लगी हुई थी। कभी यहां मकान मालिक या कोई एक ही परिवार रहते होंगे। मगर अब इसे बंद कर दिया गया था।

आंटीजी सकुचा रही थीं कि मुझे उस पुराने तरीके के घर में असुविधा होगी पर मुझे कोई असुविधा नहीं हुई थी। दरअसल घर सुविधाओं से नहीं, प्रेम से बनता है और प्रेम की वहां कोई कमी नहीं थी। वो प्रेम ही तो था, जिसके चलते आंटी यानी पद्मजा जोशी इस अति आधुनिक युग में भी उस पुराने तरीके के घर में रह रही थीं, क्योंकि ये मकान नहीं घर था। वो घर जहां श्रीकांत जोशी की यादें रची-बसी थीं। वे उन यादों को ही जी रही थीं, तभी तो हमारी बातचीत के दरम्यान जोशी हर समय मौजूद थे। उस घर की एक खासियत और थी, वो ये कि उसके छज्जे से दादा यानी माखनलालजी का वो घर नजर आता था जहां उन्होंने अपने जीवन के महत्वपूर्ण पल गुजारे थे। घर किराए का था सो अब वहां मॉल बन रहा था। पैसे की लालच ने न जाने कितने घरों को मॉल में बदल दिया है। खैर। इतने करीब रहने का एक फायदा ये रहा होगा, जब भी जरूरत पड़ती होगी तो चतुर्वेदीजी जोशीजी को आवाज देकर बुला लिया करते होंगे। जोशीजी उनके प्रिय भांजे जो थे; तभी तो चतुर्वेदीजी ने उन्हें ग्वालियर से खंडवा बुला लिया था। अब हम बैठक में थे। आंटी का एक

तख्त था, जिस पर उन्होंने मुझे बड़े प्यार से बिठाया और फिर बताया कि इस तख्त पर महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, बाबा नागार्जुन जैसे बड़े बड़े साहित्यकार बैठ चुके हैं। ये सुनकर मुझे रोमांच हो आया था। देर तक तो मेरे मुख से आवाज ही नहीं निकली थी। फिर मैं उस तख्त पर बैठी नहीं रह पायी और फर्श पर बैठकर मैंने उसे स्पर्श किया तो लगा भीतर जैसे ऊर्जा का एक अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा हो। ये मेरा सौभाग्य था कि मुझे अपने पूर्वजों के स्पर्श सिक्त तख्त को स्पर्श करने का अवसर मिला था। आंटीजी मुझे देर रात तक साहित्यकारों से जुड़ी बातें बताती रहीं।

अगले दिन दशहरा था। दशहरा की पूजा के लिए आंटी अपने कुल देवता की पूजा के लिए गयीं तो मुझे भी ले गयीं। वहां चतुर्वेदीजी के भतीजे प्रमोद चतुर्वेदी और उनके परिवार से मिलना हुआ। इसी बीच उनसे बातचीत का समय भी तय हो गया था। पूजा के बाद लौटकर हमने और भी बहुत यी बातें कीं। साहित्य की, साहित्यकारों की और दादा माखनलाल चतुर्वेदीजी की बातें। बातों का सिलसिला जो चला तो फिर देर तक चलता रहा। आंटी के पास तो उनकी यादों का भंडार ही था। शाम को प्रमोद चतुर्वेदी से मिलना तय था सो हम उनके निवास की ओर चल पड़े। प्रमोद चतुर्वेदी माखनलालजी के भाई ब्रजभूषण के बेटे हैं। अब हम खंडवा की नई बसाहट की ओर जा रहे थे सो भारत के तमाम नए शहरों की तरह कालोनियों का एक सिलसिला ही चल पड़ा था। उन्हीं कालोनियों में से एक में प्रमोद चतुर्वेदी का निवास है और वहां पहुंचकर तो ऐसा लगा जैसे समय को पंख ही लग गए हों। कारण दादा से जुड़े किस्से, उनके जीवन की घटनाओं का और उनकी तस्वीरों का पूरा का पूरा संग्रहालय ही था उनके पास। मैंने उनके यहां 'कर्मवीर' का वो अंक भी देखा जिसे माखनलालजी ने संपादित किया था।

'कर्मवीर' उनके लिए एक समाचार पत्र मात्र नहीं था। वो तो आजादी का परवाना था। उन्होंने बेखौफ होकर न सिर्फ आजादी की लड़ाई लड़ी थी बल्कि आजादी के योद्धाओं को खासकर क्रांतिकारियों का समर्थन भी किया था। प्रमोदजी से बातचीत के दरम्यान चतुर्वेदीजी के राजनैतिक और सामाजिक जीवन की अनेक परतें खुलती चली गयी थीं। कारण प्रमोद चतुर्वेदीजी के पास दादा से जुड़ी चीजों का विशाल संग्रह तो था ही इसके साथ ही आंटी यानी पद्मजा जोशी भी इस बातचीत में सहयोगी, सो ऐसा लग रहा था जैसे दोनों दादा से जुड़े पलों को एक बार फिर से जी रहे हों। प्रमोद चतुर्वेदी ने बताया कि दादा की विचारधारा समतावादी थी। उनकी नजरों में स्त्री और पुरुष बराबर थे। वे दोनों में कोई भेद नहीं मानते थे। उनके ये विचार केवल सैद्धांतिक नहीं थे इसे उन्होंने व्यावहारिक रूप भी दिया था और इसकी शुरुआत अपने घर से की थी। उनकी बहन कस्तूरी बाई उपाध्याय स्वतंत्रता संग्राम में सहभागी बनीं और उन्होंने हिरणखेड़ा को शांति निकेतन जैसा बना दिया। आगे चलकर हिरणखेड़ा स्वतंत्रता संग्राम का केंद्रबिंदु बना। माखनलालजी अपने देश और अपने परिवार के प्रति पूर्णतः समर्पित रहे इसीलिए उनका यश खंडवा से लेकर भोपाल तक फैलाव पा सका और आज भी लोग उन्हें आदर से याद करते हैं।

प्रमोद चतुर्वेदी के घर दादा की यादों के बीच चार-पांच घंटे कैसे बीत गए पता ही नहीं चला और लौटते समय लगा कि अभी तो बहुत कुछ जानना बाकी है। सच तो ये है कि माखनलाल चतुर्वेदीजी के परिवार के पास उनकी इतनी यादें संचित हैं कि सुनने वाला सुनते-सुनते भले ही थक

जाय, मगर वे कहते हुए नहीं थकते। ये प्रेम कि वो संपत्ति है, जिसे माखनलालजी ने संचित किया था जिसका ब्याज उन्हें आज मिल रहा है। वे एक स्वप्नद्रष्टा भी थे। उस समय तक पत्रकारिता की पढ़ाई नहीं होती थी। पत्रकारिता की पढ़ाई भी होनी चाहिए इसे उन्होंने 1935 में अपने भाषण में व्यक्त कर दिया था।

दूसरे दिन हम शहर घूमने निकले। चौक-चौराहे, बाजार, गलियां सब देखा मैंने। बाजार आम शहरों की तरह ही घना बसा इलाका, संकरी-संकरी गलियां थीं। कई गलियों से होते हुए हम मनहारी गली जा पहुंचे। वहां टंगीं सुंदर-सुंदर चूड़ियों को देख मेरा मन ललचा उठा और मैंने ढेर सारी चूड़ियां खरीद लीं। मगर जैसे देते समय आंटीजी आगे आ खड़ी हुई- 'तुम मेरी बेटी हो न! तो ये चूड़ियां तुम्हें मैं लेकर दूंगी।' मैंने बहुत सारी चूड़ियां खरीदी थीं। सो मैंने कोशिश की कि जैसे मैं ही दू पर वे नहीं मानीं। अंततः हारकर मुझे उनकी बात माननी पड़ी।

खंडवा के साथ एक नाम और जुड़ा है, वो नाम सुप्रसिद्ध गायक किशोर कुमार का है। यूं तो किशोर कुमार तीन भाई थे मगर खंडवा के साथ किशोर कुमार का नाम ही उभरता है तो हम उनका घर देखने गए। मगर घर को बाहर से ही देखकर संतुष्ट होना पड़ा। कारण किशोर कुमार के दोनों बेटों में संपत्ति को लेकर विवाद चल रहा है सो भीतर जाना प्रतिबंधित था। ये कोई नई बात नहीं थी। साहित्य जगत हो या फिल्म आज चारों ओर यही तो चल रहा है। परिजनों को उनकी स्मृतियों से ज्यादा संपत्ति प्रिय हो उठी है।

अगले दिन मुझे सुबह-सुबह ही लौटना था। लौटते हुए हम दोनों का मन भारी हो चला था। आंटीजी ने बार-बार आने का आग्रह किया। मैं भी उनके स्नेह बंधन में बंध चुकी थी। सो मैंने भी तय किया कि मुझे बार-बार खंडवा आना है और मैंने भीगे मन से विदा ली पर लौटते समय बार बार ये लगता रहा कि जैसे मेरी यात्रा अभी पूरी नहीं हुई है। मुझे कर्मवीर की कर्मभूमि ही नहीं उनकी जन्मभूमि की यात्रा भी करनी चाहिए सो मुझे 'बाबई की यात्रा भी करनी चाहिए। जैसे प्रमोद चतुर्वेदी जी ने मुझे बताया था कि वहां अब दादा से जुड़ी कोई वस्तु नहीं है। अब उनकी स्मृतियों का केंद्र खंडवा और भोपाल ही है। पर न जाने क्यों मेरा मन बार बार 'बाबई' की ओर दौड़ रहा था? अंततः मैंने तय किया कि मैं 'बाबई' जाऊंगी। जैसे भी मैं तपोभूमि एक्सप्रेस से जा रही थी और मेरी इस गाड़ी को आगे होशंगाबाद होकर ही जाना था। सो मैंने होशंगाबाद उतरकर 'बाबई' जाने का मन बना लिया। होशंगाबाद उतरकर मैंने टैक्सी ली। उस रूट पर शेर टैक्सियां भी मिलती हैं, पर मुझे अपनी सुविधानुसार जाकर उसी दिन वापस भी आना था सो मेरे लिए अपनी टैक्सी ही ठीक थी।

होशंगाबाद से बुदनी होते हुए टैक्सी 'बाबई' की ओर बढ़ी और कुछ ही देर में 'बाबई' पहुंच गयी थी। वहां जाने के पहले मैंने माखनलालजी के दूसरे भतीजे अरविंद चतुर्वेदीजी से बात की थी। उन्होंने मुझे बताया था कि - 'दादा ने 'बाबई' को तो बहुत पहले लगभग दो पीढ़ियों पहले ही छोड़ दिया था। उनके बाबा यानी माखनलालजी के पिता नंदलाल चतुर्वेदी हरदा तहसील में शिक्षक थे। सो माखनलालजी और उनके सभी भाई-बहन हरदा में पले बढ़े। दादा ने तो हरदा में नौकरी भी की थी। अपनी नौकरी में वे कई जगह रहे फिर उन्होंने खंडवा को अपनी कर्मभूमि बना ली।

'बाबई में तो उनकी विधवा' बुआ ही रहती थीं और अब तो वे भी नहीं रहीं। आपको वहां शायद

ही कोई मिले।’

बाबई ‘पहुंचकर हुआ भी वही। जिसका अंदेशा था। लोगों से बार-बार पूछने पर भी कोई उनका घर बताने वाला ही नहीं था। हां! माखनलालजी की मूर्ति जरूर मिली थी पर उस जगह पर उनका घर नहीं था। बहुत कोशिश करने के बाद एक बुजुर्ग ने एक कच्चे घर की ओर इशारा किया वो घर माखनलालजी का घर है वहीं उनका जन्म हुआ था। मैंने उस बंद घर को बाहर से देखा, प्रणाम किया और लौट चली थी। लौटते हुए मन कुछ खिन्न भी हुआ कि इतने बड़े साहित्यकार के गांव में उनके घर को; उस ठौर को कोई दिखाने वाला तक नहीं था। बाबई में किसी ने कोई व्यवस्था नहीं की, न ही सरकार ने और न ही समाज ने। ये उस साहित्यकार के गांव का हाल था, जिनका राजनीतिक वर्चस्व भी रहा है फिर साधनविहीन, साधारण आर्थिक स्थिति वाले साहित्यकारों की तो बात चलाना भी व्यर्थ है। मेरी आंखों में और कई साहित्यकारों के जन्म स्थान और उनका उजाड़ सा रूप कौंध उठा था। दुःख हुआ कि हम अपने पूर्वज साहित्यकारों की यादें तक नहीं संजों पा रहे हैं। हम विदेशों की हर चीज में नकल की है। वे अपने साहित्यकारों के जन्म स्थान को ही नहीं, उनसे जुड़ी छोटी से छोटी चीज को भी किस तरह सहेजते हैं; हमने इसकी नकल नहीं की। सोचकर मन और खिन्न हुआ। फिर भी मन में एक तृप्ति सी थी कि कुछ भी हो मैंने उस धरती का स्पर्श तो किया जिसने एक महान विभूति, एक भारतीय आत्मा को जन्म दिया था।



कहानी

पहुना

स्वप्निल श्रीवास्तव

उनका नाम केवल था लेकिन गांव में वे पहुना के नाम से जाने जाते थे। हमारे गांव में उनकी ससुराल थी। उनका घर नेपाल के बार्डर पर किसी गांव में था। दो बहनों रम्पी और शम्पी में बड़ी बहन रम्पी से उनका ब्याह हुआ था। वे घरजमाई नहीं थे लेकिन घर के एक सदस्य की तरह रहते थे। जिस जमाने में इक्का-दुक्का लोग बंबई जाते थे। उस समय से उनका बंबई आना जाना था। बंबई से किसिम-किसिम की चीजें लाते थे जिसे गांव के लोगों ने कभी देखा नहीं था। जैसे वे गांव आते बच्चे उन्हें घेर लेते थे। एक बार वे लाइटर लेकर आए। लाइटर ऊंगली के बराबर था। जैसे वे उसका बटन दाबते थे आग की एक लौ प्रकट हो जाती थी। वह लौ सांप के फन की तरह दिखती थी। वे बीड़ी पीते थे लेकिन उनकी बीड़ी आम बीड़ी की तरह नहीं थी। वह आम बीड़ियों से लंबी और पतली थी। उसका धुंआ सिगरेट के धुंए की तरह था। उसमें एक खुशबू थी। दिन में तो नहीं रात में लाइटर की रोशनी बहुत तेज दिखती थी।

उनके लड़के का नाम हीरा था। उसके हाथ में एक चमचमाती हुई घड़ी थी जिसका डायल अँधेरे में लपलपाता था। वह घड़ी उसके हाथ में दिन रात बंधी रहती थी। सोते समय ही वह अपने हाथ से उतारता था। सुबह-सुबह वह घड़ी में चाबी भरता था। हम उसे घरे कर खडे हो जाते थे। चाबी भरते समय कर्र कर्र की हल्की आवाज होती थी। जैसे कोई घड़ी के भीतर रो रहा हो। उन दिनों में किसी के पास घड़ी नहीं थी। लोग उसके पास टाइम पूछने आते थे और वह शान से लोगों को समय बताता था। हम लोग लुहेड़ों की तरह उसके आगे-पीछे घूमते रहते थे। उसके सामान को देखकर ईर्ष्या करते थे। वह हम लोगों को बंबई के किस्से सुनाता था। वह बताता था कि कैसे फिल्मों की शूटिंग होती है। हीरो-हीरोइन खूब गोरे चिट्ठे होते हैं। हीरोइन के गाल को छू दो तो खून निकल आए।

हीरा अपने कपड़े में सेंट लगाए रहता था। वह दूर से महकता था। हम उसके कपड़ों को सूंघकर खुश होते थे। जब वह बंबई जाता हम बहुत उदास हो जाते थे। बहुत दिनों तक गांव खाली-खाली लगता था।

पहुना पहनने के शौकीन थे। मलमल का कुर्ता और महीन धोती पहनते थे। नीचे पटरी का जांघियां दिखता था। जब कहीं कोई बाजार या मेला लगता था वे जरूर जाते थे। मेले में लड़ते हुए मुर्गों पर दांव लगाते थे। लौटते समय झोले में मांस-मछली जरूर होती थी। शाम को नान-वेज पकता था। जिसके गंध से शोर हो जाता था कि पहुना के घर में कुछ पक रहा है।

पहुना शरीफ आदमी थे। बड़े-बूढ़ों का आदर करते थे। उन्हें भी गांव के दामाद का सम्मान मिला हुआ था। वे दिन ही दूसरे तरह के थे। किसी के घर की बेटी या दामाद पूरे गांव के दामाद का सम्मान मिला हुआ था।

एक बार पहुना एक साल की जगह दो साल के बाद आए। इस बार उनके पास एक जादुई चीज थी जिसका नाम फोनगिलास था। आधुनिक भाषा में उसे ग्रामोफोन कहा जाता था लेकिन यह नाम ज्यादा प्रचलित नहीं था। ग्रामोफोन कहने में जीभ लटपटाती थी। वह दूर का शब्द लगता था। फोनगिलास अपने जैसा शब्द लगता था। आसपास के इलाके में फोनगिलास का शोर हो गया। पूरे इलाके में किसी के पास फोनगिलास नहीं था। हम लोगों ने हीरा से पूछा यह फोनगिलास क्या होता है मीता?

- हीरा ने बताया यह कान ऐंठने पर गाना गाता है हीरा ने कहा।

उस समय तक हमने मशीन से गाने नहीं सुने थे। गाने हमने नाच में या किसी बड़मनई के यहां शादी ब्याह में पतुरियों से सुना था।

सुबह-सुबह पहुना के दरवाजे पर भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। उस भीड़ में बच्चों की संख्या ज्यादा होती थी। कुछ बड़े उम्र के लोग भी उनके यहां आते थे। भीड़ में शोर बढ़ता जा रहा था। बच्चे ज्यादा चिल्लाते मचा रहे थे। पहुना कोठरी में आराम फरमा रहे थे। उन्होंने सोचा भीड़ जुट जाए तब चले। हीरा आंगन में लोगों के बैठने के लिए जाजिम बिछा चुके थे।

हीरा की माई ने हीरा के दादा से कहा- बड़े फोनगिलास वाले हो गए हो, दरवाजे पर भीड़ लगी हुई है और तुम यहां तानकर सो रहे हो। गांव के दामाद होने का मतलब यह नहीं कि अपने अलावा दूसरे को कुछ ना समझो। इन लड़कों में कुछ बड़मनई के भी लड़के हैं। वे क्या समझेंगे। अपने बाप से जाकर कहेंगे तो क्या इज्जत रह जाएगी?

हीरा की माई की बात पहुना को ठीक लगी। उन्होंने सोचा मरजादा का ख्याल जरूर करना चाहिए। आज ईश्वर की कृपा से उनके पास अगर फोनगिलास है तो उन्हें इतराना नहीं चाहिए।

वे कोठरी के दरवाजे से लंबे थे सो थोड़ा झुककर बाहर हुए। भीड़ में खुशी की लहर फैल गई। बच्चों के मुरझाए हुए चेहरे खिल गए। हम लोगों को लगा कोई जादूगर आ गया है। हमारे लिए मशीन से गाना सुनना जादू ही था।

उनके हाथ में बादामी रंग की एक संदूक थी। वह भीड़ के बीच में बैठ गए। हीरा ने भीड़ को थोड़ा इधर-उधर किया ताकि जगह हो सके। पहुना ने संदूक खोला। उसके भीतर एक चमकती हुई चीज थी। संदूक के ऊपर एक गोल सी जगह थी। पहुना ने एक छोटी सी हेंडिल निकाली और संदूक के किनारे पर घुमाने लगे। वह गोल सी जगह पर तेजी से चलने लगी फिर पहुना ने तावे जैसी गोल चीज को कागज के पैकेट से बाहर निकाला। उसे कपड़े से आहिस्ता से पोछा। उसे उस खाली जगह पर रख दिया और वह तावे की तरह घूमने लगा। संदूक के किनारे एक यंत्र था जिसका किनारा सांप की मूढ़ी की तरह लग रहा था। पहुना ने उसके मुंह पर पतली सी सुई लगाया और उसे तावे पर रख दिया। शुरू में गड़गड़ की आवाज हुई। गाना बजने लगा। पहले थोड़ा महीन आवाज आई फिर खुलकर बजने लगा। गाने को सुनकर हम सब झूम उठे। फोनगिलास से गाना सुनकर हम धन्य हो चुके थे।

हमने पहली बार- मुझे जीने दो का गाना सुना। वह गाना मेरे भीतर अब भी बजता है। गाने के बोल थे- नदी नारा न जाओ श्याम प-इयां परूं। नदी नारा गए तो गैडबों करो, बीच धारा न जाओ, श्याम प-इयां परूं।

फोनगिलास से निकलने वाली आवाज बहुत महीन थी। जैसे कोई करीब बैठकर गा रहा हो। रात के सन्नाटे में यह आवाज बहुत साफ सुनाई पड़ती थी। इस आवाज को सुनकर लोग ठिठक जाते थे। हमारा रोज का काम था। हम पहुना के घर पर जुट जाते थे। कभी वह मना कर देते थे। कभी लोगों की मांग पर फोनगिलास बजाते थे।

हमारे यहां कहावत है कि सब दिन न होत एक समाना। दिन का पतन भी होता है। धीरे-धीरे पहुना के दिन स्याह होने लगे। बंबई में लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। गांव के कई लोग कमाने के लिए बंबई जाने लगे। जिस कंपनी में पहुना काम करते थे वह टूट गई। पहुना बेरोजगार हो गए। उनके बीबी बच्चे बंबई से गांव लौट आए। थोड़ा बहुत खेत था उसी को जोतते खाते थे। पहले जैसी स्थिति नहीं रह गई थी। कमाए गए पैसे खत्म हो रहे थे।

एक दिन सुनने में आया कि पहुना उड़ीसा के किसी शहर में कमाने गए हैं। इस बात से परिवार वालों को थोड़ी राहत मिली। पहुना की चिट्ठी आती थी। उसमें ढेर से आश्वासन थे। जिसके आधार पर कर्ज कुआम काढ़ लिया गया था। दो माह बीतने के बाद न कोई खत और न मनीआर्डर। रोज रम्पी और हीरा पोस्टमैन से पूछते रहते थे। फिर घर से कई चिट्ठियां भेजी गईं लेकिन उधर से कोई जवाब नहीं आया। घर के लोग हैरान परेशान कि अब क्या करें?

देखते-देखते साल भर का समय बीत गया। कटक जैसे शहर में पहुना को खोजने किसे भेजा जाए। पहुना कोई वीआईपी नहीं थे कि आसानी से उनका ठिकाना मालूम हो जाए, वे अदना से आदमी थे जो एक गरीब सूबे के पिछड़े हुए गांव से यहां कमाने आए थे। घर का खर्चा मुश्किल से चलता था। हीरा ने एक बड़े आदमी के यहां हरवाही थाम ली और रम्पी मजूरी- धतूरी करने लगी। ठाठ से रहनेवाले परिवार में भूख का अंधेरा फैल रहा था। वे भी दिन थे जब पहुना का परिवार गांव में सबसे सुखी परिवार माना जाता था। पैसा बहुत नहीं था लेकिन उसके बगैर काम नहीं रूकता था। अब ऊंट दूसरे करवट बैठ चुका था। रम्पी की उम्र पचास को छू रही थी। चेहरा चिचुंक गया था। देह में हड्डियां दिखाई दे रही थी। उन्हें आसानी से गिना जा सकता था।

रम्पी बहुत खूबसूरत औरत नहीं थी लेकिन उसकी मांसलता गजब की थी। वह नाक में नथुनी पहनती थी जो बात करते समय नाक के दोनों तरफ हिलती रहती थी। हमारे गांव में एक दो औरतें नथुनी पहनती थीं।

मजलूम औरतों की जवानी बहुत दिन तक नहीं टिकती। उसमें ग्रहण लग जाता है। गरीबी की मार उसे उम्र के पहले बेजान कर देती है।

कुछ दिनों बाद उड़ती हुई खबर आई कि पहुना कटक में है और एक बंगाली औरत के फरेब में आ गए हैं। उस औरत ने उन्हें भेड़ा बना लिया है। वह जैसा कहती है वह वैसा करते हैं। पहुना की लगाम उस औरत के हाथ में है। जबसे रम्पी ने यह खबर सुनी है वह सदमें में आ गई है। उसकी नींद गायब हो गई है। सोचती थी कि बुढ़ापे में इश्क का रोग कितना खतरनाक होता है।

पहुना शुरु से इश्कमिजाज रहे हैं। जब बंबई से लौटते थे तो घास छिलने वाली औरतों के साथ

सीवान में चले जाते थे। कमीज के कालर के नीचे लाल रंग की रुमाल लगाए रहते थे। उन्हें देखकर धीमे-धीमे गुनगुनाते थे। वे पूरे छैला थे। गांव के दामाद होने के नाते उन्हें मजाक करने की छूट हुई थी। औरतें भी उन्हें छेड़ती रहती थीं। औरतों के लिए वे कभी शारीरिक नहीं हुए थे। गांव के बाहर की बात अलग थी। वहां वे छुट्टा सांड की तरह घूमते थे। बीबी बच्चों को वे गांव भेज चुके थे।

भादों की काली डरावनी रात थी। आकाश में मेघ छाए हुए थे। बिजली चमक रही थी। लोग खा-पी कर सोने की तैयारी कर रहे थे। रम्पी दिन भर की हाड़तोड़ मजूरी के बाद थकी हुई थी। वह ढिबरी बुझाने जा रही थी। तब तक उसने थोड़ी दूर पर एक काला साया देखा। अँधेरे में कुछ साफ नहीं दिखाई दे रहा था। साया वहीं ठहरा हुआ था। उसे डर लगा। कहीं भूत-प्रेत तो नहीं है?

वह साये के थोड़ा नजदीक आ गई थी। उसे साया कुछ परिचित सा लगा। उस साये के भीतर उसे पहना की आहट सुनाई दी। पास पहुंची तो उसे पहना की आकृति दिखाई दी। वह चेहरा बहुत दुबला-पतला था। पहना बहुत मोटे-ताजे नहीं थे लेकिन इतने दुबले भी नहीं थे कि वे हड्डियों के समूह लगे।

पहना को देखकर कोई दुआ-सलाम नहीं हुआ। रम्पी ने सीधे कहा- 'दहिजरू के पूत इहां' का लेवे आइल बाटा... सब कुछ तो तो लुटि-पटि गईल।'

रम्पी दहाड़ मारकर रोने लगी। सन्नाटे में उसका रोना साफ सुनाई दे रहा था। उसके घर के नजदीक सेतू बाबा थे। वे लाठी लेकर पहुंच गए, देखा रम्पी एक साये से लड़ रही थी। सेतू बाबा ने अपनी बूढ़ी आँखों से टटोलकर देखा- यह तो पहना है।

-बाबा ने कहा- कहां थे इतने दिन। तुम्हें पता है तुम्हारे बाल-बच्चे किस हालत में हैं। तुम्हें शर्म आनी चाहिए मरदेसामी... कुदाहद्द है। मरदेसामी कुदाहद्द सेतू बाबा का तकियाकलाम था। उन्होंने रम्पी से कहा- कुछ दाना-पानी पहना को दो फिर बतकही करना।

-दाना-पानी नहीं दहिजरू के पूत के जूता चाही। रम्पी ने वितृष्णा से कहा। भीड़ जुट चुकी थी। लोगों ने बीच बचाव करके रम्पी से गुड़ पानी के लिए राजी कर लिया। लोगों ने देखा पहना दुबराकर मूस जैसे हो गए हैं। देह में खून नहीं है। कमर टेढ़ी होकर धनुष बन चुकी थी। उनका उठना-बैठना मुहाल था।

पहना प्यासे हुए थे। हलक में दो गिलास पानी उतारा। उन्हें लगा थोड़ी देर के लिए जान में जान आ गई है।

सेतू बाबा ने कहा- 'अब बताओ इतने दिन कहां थे?'

- 'बाबा मुझे जेहल हो गई थी। कुछ लोगों ने मुझे फंसा दिया था।'

- 'जेल में फंसे थे या बंगालिनियां के चक्कर में फंस गए थे?'- रम्पी ने कहा।

क्या हकीकत थी यह पहना ही बता सकते थे। हालांकि पहना जो भी बताते उस पर यकीन करना आसान नहीं था। यह मान लिया जाए कि वे जेल में थे तो कम से कम एक पोस्टकार्ड तो लिख ही सकते थे लेकिन यह पूछने की जहमत कौन उठाए?

पहना एकाध सप्ताह रहे। रोज महाभारत होता रहा। पहना की तबियत गिरती जा रही थी। उनका कोई ख्याल नहीं कर रहा था। करे भी क्यों उनके नाते, परिवार ने सबसे बुरे दिन देखे थे।

सोमवार का दिन था। उस दिन बाजार लगता था। रम्पी और हीरा ने उन्हें खदेड़कर भगा दिया।

गांव के लोग तमाशा देखते रहे। वे बाग-बगीचे और सीवान घूमते रहे। बैल की तरह अपने खूंटे को देखते रहे। बैल अगर पगहा तुड़ाकर भागता है तो लोग उसे दोबकर अपनी घारी में ले आते हैं लेकिन वे बैल से भी गए गुजरे हो गए। उन्हें बहुत ग्लानि हुई उनका पुरुषार्थ थक गया था। शराबखोरी और औरतखोरी के काकटेल ने उनकी बुरी गत बना रखी थी।

दुनिया में परोपकारियों की कमी नहीं है। उनके घर के पास एक मुस्लिम परिवार रहता था। जिनसे उनके रिश्ते बहुत अच्छे थे। उनसे पहुना का दुःख देखा नहीं गया। वे सीवान में बैठे हुए पहुना के पास पहुंच गए और बोले- मीता, आपका दुःख देखा नहीं जाता। जिस परिवार के लिए आपने जमीन आसमान एक कर दिया था वह इस बुरे वक्त में आपका साथ नहीं दे रहा है। आदमी की जिंदगी में इससे बुरा क्या हो सकता है?

कोई मानने को तैयार नहीं कि आप जेल में थे। आपकी सेहत बता रही है कि आप कितनी तकलीफ में थे लेकिन मैं इतना खुदगर्ज नहीं हूँ। मैं जरूर आपकी बिरादरी का नहीं हूँ लेकिन आप आज से मेरे घर पर रहें। जो कुछ रूखी-सूखी है हम मिल बांटकर खा लेंगे।

इस्माइल की बात सुनकर पहुना पसीज गए। उन्हें लगा कि धरती वीरों से खाली नहीं है। अब भी दुनिया में अच्छे लोग हैं। उन्हीं से यह दुनिया चल रही है।

शाम को इस्माइल के यहां खूब गहमा-गहमी थी। पहुना को बैठने के लिए आसन दिया गया। लजीज व्यंजन बनाए गए। बहुत दिनों बाद पहुना पेट और मन भर खाए।

गांव भर में इस्माइल की उदारता के चर्चे थे। लोग कह रहे थे कि एक गैरजाति का आदमी पहुना की मदद कर रहा है। जाति के लोगों को डूब बरना चाहिए। रम्पी के लिए पहुना का होना न होने के बराबर था। पहुना उसके लिए मर चुके थे। हालांकि कुछ लोगों को रम्पी का व्यवहार अमानवीय लग रहा था। पति कितना ही बुरा क्यों न हो उसके साथ इस तरह का बर्ताव ठीक नहीं। लेकिन यह फैसला तो रम्पी को लेना था। दो सप्ताह का समय बीत चुका था। पहुना हरियाने लगे थे। ठूठ पर कोपलें उगने लगी थी। शाम होते वे बाग की तरफ टहलने निकल जाते थे। दिशा मैदान के बाद तालाब में मुंह हाथ धोते और इस्माइल मियां की यहां रूख करते। पहुना सोचते अभी उनके कुछ पुण्य बचे हुए हैं। ईश्वर की कृपा बनी हुई है।

सुबह शाम चाय की आदत थी। चाय के बिना उनको खराश हो जाती थी। सो उन्हें चाय मिलती। दोपहर को दबाकर खाते और चैन की डकार लेते। कई लोगों ने रम्पी को टोका भी कहा- एक गैर आदमी पहुना की मदद कर रहा है और एक तुम हो पहुना से मुंह फेरे हुई हो।

रम्पी कहती- भैया तुम क्या जानो दुःख क्या होता है? इस आदमी के नाते मुझे क्या-क्या जलालत उठानी पड़ी है। हम लोगों को इस आदमी ने जीते जी मार डाला। अब क्या बचा हुआ है। वह कहीं भी किसी के यहां जाए यह उनकी मर्जी है। मेरा तो मन भर चुका है।

सुबह-सुबह लोगों ने देखा कि इस्माइल के यहां से तेज तेज आवाजें आ रही हैं। इस्माइल और पहुना में कहा-सुनी हो रही है। इस्माइल पहुना से कह रहे थे- 'करना धरना कुछ नहीं बस सुबह-शाम रोटी तोड़ना है। अब यह नहीं चलेगा। आप अपना इंतजाम कर लें।'

ऐसा क्या हुआ कि इस्माइल के सुर बदल गए। जिस पहुना को उन्होंने बुरे समय में शरण दी थी उसके साथ इस तरह का सुलूक कर रहे हैं। इस्माइल की आवाज में तुर्शी थी। उनकी भलमनसाहत

गायब हो चुकी थी। वे सधे हुए साहूकार की तरह हिसाब-किताब ले रहे थे।

पहुना ने कहा- 'भैया बस एक रात और टिकने दो मैं दूसरे दिन चला जाऊंगा। मैं जान चुका हूं बुरे दिन में कोई साथ नहीं देता। जब बीबी बच्चे अपने नहीं हुए तो दूसरा कैसे अपना हो सकता है। जब तक पैसा कौड़ी थी मैं आपके लिए मुफ़ीद था। आपका दोष नहीं सब मेरे भाग्य का दोष है।'।

गांव में इस्माइल की उदारता की पोल खुल चुकी थी। लोग सोच रहे थे कि यह आदमी तो अव्वल दर्जे का मतलबी निकला। आदमी को पहचानना बहुत कठिन है। अगर कोई आदमी किसी की मदद करता है तो उसके पीछे उसका स्वार्थ छिपा होता है।

जैसा पहुना ने कहा था। वे सुबह गांव से निकल गए। उनके पास एक झोले के सिवा कुछ नहीं था। हां दुःख भरपूर थे। माना उन्होंने परिवार के साथ बहुत बुरा किया तो क्या इस हालत में परिवार को इस तरह का व्यवहार करना चाहिए। पहुना के पास सोचने के लिए बहुत कुछ था।

पहुना लौटने के लिए गांव से बाहर नहीं गए थे। लौटकर वे आए भी तो कोई दरवाजा उनके लिए नहीं खुलेगा।

उनके जाने के बाद कई महीने गुजर गए। उनकी खोजखबर नहीं मिली। आखिर उनकी खोजखबर कौन लेता? वे जीते-जी पराए हो चुके थे। बिना उन्हें सुने परिवार ने उन्हें सजायापता बना दिया था। पहले परिवार से फिर गांव से वे निष्कासित हुए और आत्मनिर्वासन में चले गए। गांव में उनकी चर्चा होती। फिर धीरे-धीरे उनके मरने की अफवाहें आईं। मर तो वे पहले गए थे बस दफनाना बाकी था। मरने के बाद उन्हें यह सुख भी नसीब होने वाला नहीं था। वे लावारिस हो जाने वाले थे।

साल बीत चुका था लोग मान चुके थे कि वे अब इस दुनिया में नहीं हैं। वे दुनिया में थे कब। बाद के दिनों में वे दूसरी दुनिया के नागरिक थे। यह दुनिया उनकी बनाई हुई नहीं थी। उसे एक स्त्री ने अपनी माया से बनाया था। जितने दिन वह उसके लिए उपयोगी रहे वे साथ रहे फिर जिंदगी के अँधेरे में फेंक दिए गए। वह धोबी के कुत्ते बन चुके थे जिसको घर और घाट में जगह नहीं मिली। 'दो गज जर्मी न मिली कुंचे-यार में।' वे बेजगह हो चुके थे।

हां उनके कुछ हमदर्दों ने दूर सीवान में जरूर फोनगिलास में उनका रोना सुना था। उन हमदर्दों में एक मैं भी था। जिसने उनके फोनगिलास से गाना सुनकर गाने की कला सीखी थी।



चश्मा

वंदना शुक्ल

रात में देर तक उन्नीस वर्षीय गुड्डी, साठ वर्षीय सास मालती देवी के कपड़े मुद्दतों पुरानी टीन की लाल फूल वाली नीली बकसिया में जमाती रही और मालती देवी वहीं कथरी पर बैठी टुकुर टुकुर उसे देखती रही। अगले दिन मालती को बस से तीरथ धाम के लिए निकलना था। इस सिकंदरा कसबे के ही रामस्वरूप के छोरे ने अभी अभी नई बस 'कसवाई' थी तो रहवासियों को सस्ते में तीर्थ लिवा जा रहा था। ज्यादातर उसमें आसपास के गांव खेड़ों के घर के बड़े-बूढ़े थे जिन्हें उनके बेटे 'मोक्ष प्राप्ति' और स्वयं 'पुण्य कमाने' भेज रहे थे। जो सधवा थे वो जोड़े से जा रहे थे और जिनका एक साथी बिछुड़ चुके था वो अकेले। आसपास के कस्बों के अपरिचित लोग सब मिलकर 17 जने थे। दोपहर को जब मालती ने अपने बेटे से धीरे से कहा था 'रग्यू बेटा हम घर से कभी बाहर निकले नहीं। जहां भी गए तुम्हारे बाबूजी साथ थे। हमारे संग 'धाम' जाने वालों को हम जानते भी नहीं। कैसे होगा? सब गैर हैं..।' रग्यू ने शायद सुना नहीं था वो जल्दी जल्दी कपड़े लेकर नहान घर में घुस गया।

'बात बहू गुड्डी ने झट से लपक ली।' अरे इस उम्र में क्या अपने क्या गैर? तुम्हें तो तीरथ जाना है जनम सुधारने कोई रिश्तेदारी थोड़ा ही जुटानी है? वो तिलमिलाकर बोली थी। और फिर एक तरफ से मुस्कुराते हुए उसने मजाक किया था 'वहां भी तुम्हारी उमर के अकेले जा रहे होंगे कर लेना किसी से दोस्ती। इस उम्र में दोस्ती का अपना अलग ही मजा होता है।'

बहू के इस कटाक्ष को सुन भीतर तक सिहर गयी थी मालती।

नहान घर से निकलता हुआ रग्यू बोला 'अम्मा, हो गयी सब तैयारी? तुम भी देख लो। कुछ और रखना हो तो। अरे गरम शाल वगैरा रख देना' रग्यू ने आईने के सामने बाल बनाते हुए पत्नी गुड्डी से कहा।

सब रख तो दिया है ..गुड्डी खीझकर बोली

रग्यू बेटा ये कह रहे थे कि कभी हम, तुम औरन के साथ ही हो आते तीरथ। अभी अकेले कैसे जाएंगे?' मालती ने सहमते हुए फिर एक बार कहा 'का करें अम्मा तुम्हें हम ही ले जाना चाहते थे लेकिन देखती तो हो कितने जंजालों में फंसे रहते हैं। सबसे बड़ी दिक्कत तो छुट्टी की है। कोई सरकारी नौकरी तो है नहीं कि एक बार घुस जाओ तो फिर बिंदास छुट्टी भी मिलती है और ठसक से नौकरी करते हैं' कहकर वो अपने कमरे में चला गया।

गुड़ी को और मौका मिल गया। उसने अपनी जुबान के तरकश में से शब्दों के एक से एक जहर बुझे तीर सास के दिल पर फेंकने शुरू कर दिए।

‘देखती नहीं हो बिलकुल कि पूत को आज छुट्टी वाले दिन भी हाड़ तोड़ने जाना पड़ेगा। बस शुरू हो गयी तुम्हारी बकर-बकर। उसके सामने अपने दुःखडे खोल के बैठ गई। कैसी मां हो तुम? ‘गुड़ी कमरे में झाड़ू बुहारते हुए बड़बड़ा रही थी।’ अब खर्चा पानी दे तो रहे हैं सब तुम्हें जाने को, फिर भी नखरे। रामजी महाराज कैसा जमाना आ गया है। हम जान जवान घर में सर खपा रहे हैं। तीन-तीन मोडीयां हैं और अकेली जान कमाने वाला। उस पे भी बातें आ रही हैं। इन्हें इस उमर में घूमने-फिरने को मिल रहा है तो....अपना पेट कटकर इन्हें तीरथ भेज रहे हैं ..बताओ जरा इस कलजुग में कोई बेटा करता है क्या मां बाप के लिए इतना खरचा। कहती हुई गुड़ी अलगनी से कपड़े उतारकर तह करने लगी।

नहीं वो बात नहीं।

तो क्या है ? मालती सास की धोती लपेटकर एक तरफ जाने वाले कपड़ों के साथ रखती हुई बोली।

वहां तो सब अपने अपने जोड़ीदार है। हम अकेले हैं न...वो भी औरत जात? किसी को पहचानते भी नहीं। बोलने बतलाने की भी आदत नहीं है। कभी सिकंदरा के बाहर अकेले गए नहीं। कहीं घूमते-घूमते खो गए, रास्ता भटक गए तो तुम औरन को ही दिक्कत हो जाएगी।

अरे ये जिम्मेवारी तो बस वाले की। पूरा चार हजार दिए हैं? हिम्मत रखो बस तुम जैसी पकी उमर की औरतें कहां खोएंगी अम्मा ..अजीब बात करती हो। (खो जाओ ऐसी किस्मत कहां ...स्वर में यही भाव थे) और क्या रखना है बताओ जल्दी...।

‘वो चश्मा की तनी टूट गयी है। दिखने में दिक्कत होती है। कितने दिन से कह रहे हैं, जरा ठीक करा देते। ...घर में तो चल जाता था पर ..मालती ने डरते हुए कहा।

अब ज्यादा फैशन वाली मत बनो। और खर्चा नहीं है हमारे पास। धाम पे जा रही हो कोई सिनेमा देखने नहीं कि दीदे नहीं होंगे तो काम नहीं चलेगा। भगवान तो पत्थर के हैं। वो क्या देखेंगे कि भक्तिन के पास आंख कान ठीक-ठाक है के नहीं। और फिर अंधी तो हो नहीं। इतना तो दीखता ही है ...।

कहकर गुड़ी बत्ती बंद कर बड़बड़ाती हुई अपने कमरे में सोने चली गयी। ‘बाबूजी जब गार्ड की ड्यूटी से आते थे तो रात में बारह भी बज रहे हों वो जागती रहती थी और उन्हें गरम रोटियां खिलाती थीं। थका आदमी कभी-कभार चिड़चिड़ाता ही है। मजाल है जो कभी पलटकर जवाब दिया हो। हमारे भी तो दो दो जवान ननदें थीं जिन्हें ब्याहने को छोड़ गए थे सास-ससुर। बाबूजी जैसे तेज मिजाज वाले पति के साथ रहकर भी कर्तव्य समझ सब गृहस्थी की जिम्मेदारी संभाली। अभी तक संभाल ही रही है...मालती ने करौटा बदला।

जानती है कि बहू गुड़ी जब से ससुर नहीं रहे उससे बहुत बुरा व्यवहार करती है और उसे कहीं भेजना चाहती है। कभी सोचते कहां है हम कि जिन संतानों के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर रहे हैं उन्हीं बच्चों पर एक दिन हम बोझ बन जाएंगे। अपने ही सब बेगाने से हो जाएंगे। ...मरते बने न जीते। मालती सोच रही थी। ‘पढी लिखी ज्यादा नहीं है तो क्या हुआ इतनी बुद्धि तो है ही

उसमें कि कौन क्या सोच रहा है। वो तो बेटे रघू के कारन रह रही है वो इस घर में। और पोतियों के भी जिन्हें वो बेहद प्यार करती है। मालती की दुनिया तो अब घर की ये चार दीवारें हैं। कभी किसी ब्याह शादी में कुछ देर को जाना भी हो तो घर भागने की लगती है। अब इतने दिन वो भी अपरिचितों के बीच अकेले कैसे'।

सोचते-सोचते मालती ऊंधने लगी।

वो अनजान लोगों के साथ एक पहाड़ी के पास खड़ी थी। ऊपर पहाड़ की चोटी पर एक मंदिर दिख रहा है। वो लोग उस पर धीरे धीरे चढ़ रहे हैं। मालती चढ़ते चढ़ते हांफने लगी है। वो किसी का हाथ ढूँढ रही है सहारे को। पर सब अपने अपने जोड़ीदारों के साथ हाथ थामे पहाड़ चढ़ रहे हैं। कोई पति-पत्नी एक दूसरे का हाथ थामे हैं तो कोई अपने जवान बेटे का। कुछ देर में उसने देखा कि वहां कोई नहीं है वो अकेली पहाड़ पर चढ़ रही है। पूरे पहाड़ पर सन्नाटा है। वो वहां से घबराकर नीचे देखती है। नीचे एक विशाल खाई दिखाई दे रही है। रात होने लगी है। वो चिल्लाती है 'रघू ...रघू हम गिर जाएंगे। आ जाओ कहां हो तुम?' अचानक उसे लगता है कि जमीन डोलने लगी है और वो संतुलन खो तेजी से नीचे की ओर गिरती जा रही है।

'क्या है क्या हो गया? क्यों चिल्ला रही हो?' अचानक मालती की आंखें खुल गईं। अरे ये तो सपना था। रघू पानी का गिलास लिए खड़ा था। क्या हुआ अम्मा डर गयी क्या? उसमें हँसते हुए कहा।

गुड़ी बडबडाती हुई कमरे से बाहर चली गयी। छुटकी शोर सुनकर रोने लगी थी।

'अम्मा जानते हैं तुम परेशान हो। अकेली जा रही हो। बाबूजी भी होते तो साथ चले जाते। हमें भी निश्चितता हो जाती लेकिन...देखो ऐसा मौका फिर नहीं आएगा इसीलिए भेज रहे हैं। गुड़ी ठीक कहती है। तीरथ घूम आओगी तो अच्छी गति होगी।' अब सो जाओ ...कल यात्रा करनी है फिर कहकर रघू चला गया।

उसके बाद मालती को नींद नहीं आई। 'गति'? धरम, पुण्य, मोक्ष, तप, गति ये सब तो घर में ही हैं। इतने संघर्षों के बीच बच्चों को अपने साए की तरह और खुद धूप पे तपते हुए पालन पोषण करना क्या ये किसी तप धर्म से कम था क्या?

रिक्शा बाहर आकर खड़ा हो गया था। रघू ने सवेरे ही उसे कह दिया था। अगले मुहल्ले में ही रहता है। जब काम होता है तो फोन करके बुला लेते हैं।

'अम्मा अपना खयाल रखना।' गुड़ी ने जाते जाते शहद भरे शब्दों में कहा और सास के पांव छू लिए। छोटी पोती अपनी मां की गोद में दादी के साथ जाने को रो मचल रही थी। मालती का मन कलप सा गया।

रघू बस अड्डे तक अम्मा के साथ उन्हें छोड़ने गया। वहां कुछ तीर्थ यात्री पहले ही आ चुके थे। वो ज्यादातर जोड़े में थे। और वहीं पेड़ के नीचे खड़े या उन मुद्दतों पुरानी टूटी बेंचों पर बैठे बतिया रहे थे।

'रघू ने मालती की बकसिया और झोला जिसने मंजन, ब्रश, हाथ धोने का साबुन और सर दर्द की गोली भी थी रिक्शे से उतारकर जमीन पर रख दिया और रिक्शे वाले को पैसे देने लगा।

मालती रघू के पीछे पीछे घने नीम के पेड़ के नीचे आ गयी जहां और लोग भी खड़े थे। रघू

ने एक छोटी सी जगह देख वहां लोहे का बक्सा बिछा दिया और 'अम्मा यहां बैठ जाओ जब तक बस आ रही है।' कहकर लोगों से बात करने लगा। मालती ने देखा जिनसे वो बात कर रहा था वो सब मालती की तरफ देख रहे थे। वो समझ गयी कि रग्घू उसी के बारे में बात कर रहा है। उन्हें कह रहा होगा कि अम्मा हैं अकेली जा रही हैं। कभी अकेली घर से निकली नहीं तो इनका ख्याल रखना।

बस सामने ही खड़ी थी। पीली लाल चमचमाती बस। बस के पास खड़े दो तीन युवक खूब उत्साहित हो बस की ओर निहार रहे थे। एक मरियल सा सांवला आदमी हाथ में गेंदे के फूलों की माला एक डंडी में लिए खड़ा था।

'ला भैया ...दे दे माला ..शिवजी कूं चढ़ा दूं ...ले पैसा...।' कहकर वो आदमी बस में चढ़ गया और ड्राइवर की सीट पर बैठकर सामने लगी शिवजी की तस्वीर पर माला चढ़ाकर हाथ जोड़ लिए।

हां भाइयों बैठ जाओ...सब आ गए ? बस मालिक के जवान लड़के ने पूछा जो अभी अभी बस में चढ़ा था और साथ में ही जाने वाला था।

रग्घू जो अभी कुछ देर पहले कहीं चला गया था हाथ में तीन संतरे की पोलीथिन लेकर आया और मालती का बक्सा लेकर बस में चढ़ा। पीछे-पीछे मालती बस में चढ़ी। उसकी धडकनें बढ़ी हुई थीं।

'यहां बैठ जाओ अम्मा ...कंडक्टर ने यहीं बैठने को कहा है।' रग्घू ने उसे कैबिन में बैठने का इशारा करते हुए कहा और उसका सामान वहीं सीट के नीचे खिसका दिया। टिकिट वगैरहा की चिंता मत करना। कंडक्टर को दे दिए हैं। अच्छा अब चलता हूं। ड्यूटी पे जाना है 'कहकर अम्मा के पैर छूकर वो चला गया। मालती ने सोचा था कि अभी वो रग्घू से बात करेगी कि अब भी कोई गुंजाइश हो तो वो घर वापस चले लेकिन.....

बस धीरे-धीरे खिसकने लगी थी। मालती के दिल की धडकने बस की रफ्तार के साथ बढ़ने लगीं। उसे लगा जैसे अचानक उसका सब कुछ लुट गया हो और उसे किसी अनजान से जंगल में भेज दिया गया हो। केबिन में जहां पहले से ही तीन चार मुस्टंडे बैठे हुए थे। बस के चलते ही केबिन के कांच की खिड़की को लाक कर दिया गया। अब तो मालती का जी और भी धक्क.....। एक तो पूरी बस में उसका कोई संगी- साथी नहीं और ऊपर से केबिन में इतने मर्दों के बीच अकेली औरत। उसके 'दूसरे' मन ने उसे बहुतेरा समझाने की कोशिश की कि अरे भागवान, भरी बस में किसकी मजाल जो ऊंच-नीच हो जाए। और वैसे भी इतनी बुजुर्ग और गमटू औरत को कौन छेड़ेगा. ..न मुंह में दांत न पेट में आंत...ये दूसरा तर्क मालती को घबराहट कम होने के लिए ज्यादा मुफीद लगा। लेकिन तभी उसे बहू गुड़ी का कुछ दिन पहले जोर जोर से अखबार में से एक बुजुर्ग औरत को घर में घुसकर बदसलूकी करने और हत्या कर देने की खबर को पढ़कर सुनाने का वाकया याद आया ...मालती फिर सिहर गयी।

अम्मा उते सरकियो...अचानक एक मरदाना आवाज से वो चौंकी। एक युवक उसी से सरकने को कह रहा था। वो घबराकर सीट पर ही और सिकुड़कर बैठ गयी उसके दूसरे मन ने फिर समझाया 'अरे ये तो अपने रग्घू से भी कम उम्र का छोकरा है रे, काहे का संकोच' ? लड़का बिंदास उसके और एक बगल में बैठे दूसरे लड़के के बीच में ठंसकर बैठ गया और सब फिर से जोर-जोर से बातें करने

और हँसने लगे।

‘हे भगवान...ये दिन भी देखने थे। बाबू जैसे भी रहे वो थे तो ढाल ही। उनके जीते जी कहां कभी अकेले गयी वो। वैसे तो घर से कहां निकली लेकिन जब भी जाती बाबू साए की तरह उसके साथ रहते। ..और अब ...इन मुस्टंडों के बीच वो अकेली।

‘चिकनी चमेली पौवा चढ़ाके आई’ अचानक एक जनानी बेशर्म सी आवाज बस के ‘रेडियो’ में से निकलकर पूरे केबिन में फैल गयी। कुछ युवकों के पांव उस पर थिरकने लगे।

‘मस्त फिलिम थी गुरु...देखी थी क्या तूने?’ पास बैठे लड़के ने कंडक्टर और उसके साथ बैठे लड़के की ओर देखकर कहा ...

फस्ट डे फस्ट शो गुरु...अपुन नई छोड़ते ऐसी...कहकर उसने आंख दबाई...अन्य लड़के हा हा हंसने लगे। मालती ने माथे का पल्लू आंखों तक खींच लिया और केबिन के कांच से यूं ही बाहर की तरफ देखने लगी।

कहीं सुना सुना सा लग रहा है ये गाना ...मालती को अचानक धुन कुछ पहचानी सी लगी। दिमाग कुछ देर के लिए आसपास की गतिविधियों से हटकर गाने के सुने जाने की शिनाख्त में लग गया। याद आया अरे ये गाना तो जिज्जी के अज्जू के ब्याह में खूब बजा था और फिर गाने पर सब जनी मानसों के बीच बहू गुड़ी का थिरक थिरक...लहरा लहरा कर नाचना और कुछ लड़कों का सीटी बजाना याद आया।

छि: ...कित्ता बुरा लगा था जब बहू सब कुनवे और बाहरी लोगों के आगे ऐसे भद्दे गाने पे ठुमक-ठुमक के नाच रही थी। न पल्लू का होश न खुद का। एक वो है कि जब बहू बनकर आई इस देहरी पर बाबूजी चले भी गए तो भी इस उमर में किसी ने उसका सर खुला कभी नहीं देखा नाचना गाना तो दूर की बात...

अचानक एक झटके के साथ बस रुक गयी। मालती का मगज दुनियां भर की बातों के बीहड़ में घूमता फिर ठिकाने पर आ गया।

उसने देखा कुछ लोग बस से नीचे उतर रहे हैं और कुछ नए बस में चढ़ रहे हैं।

अचानक केबिन का दरवाजा कंडक्टर ने खोल दिया और वो सब मुस्टंडे उछल-उछलकर नीचे उतरने लगे।

मालती की सीट भी खाली हो गयी। वो जरा और फैल के बैठ गयी। और सुस्ताने लगी। ‘चमेली’ भी जाने कहां गायब हो गयी...रेडियो फिर चुप होके बैठ गया था।

‘कमबखत एक पैर पे बैठे बैठे पांव दुखने लगा’ उसने सोचा और पैर को सहलाने लगी। गला सूखने लगा था। माथे तक खींचा ‘परदा’ थोड़ा ऊपर किया। मालती ने थैलिया में से पानी की बोतल निकाली। खोलकर पीने लगी। पीते हुए रुकी हुई बस की खिड़की से बाहर लंगड़े चश्मे की तनी को हाथ से थामे देखने लगी। लड़के जो कुछ देर पहले केबिन में बैठे थे अब बाहर मटरगश्ती कर रहे थे। कोई सिगरेट पी रहा था, कोई गुटका खरीद या खा रहा था। कोई किसी लड़की को देखकर छींटे कस रहा था। सब मस्ती के मूड में...।

‘हे भगवान जाने कब आएगा ‘तीरथ’ ...मालती सोच रही थी। चश्मे की डंडी जब से टूटी है कितनी धुंधला गयी है दुनिया।

‘अम्मा अब तू भी बैठ जा सीटें खाली हो गयी हैं’ अचानक इस आवाज से वो चौंकी। ये वही बस कंडक्टर की आवाज थी जिसे रग्घू उसकी जिम्मेदारी सौंपकर गया था और जो अब बस के बाहर खड़ा हो खिड़की में से झांककर उससे सीट पर बैठने को कह रहा था। मालती ने एक बार बस में देखा और सीट के नीचे से अपना सामान निकालने लगी। कितनी आंखें फैला लीं उसने तो भी दिखाई नहीं दे रहा था। जैसे-तैसे उसने अटैची खींची थैलियों को कंधे पर लटकाया। चश्मे की साबुत तनी को पकड़कर सीट के नीचे झुककर ‘छूटा तो नहीं सामान’ एक बार देखा और केबिन की खुली खिड़की में से पैर उठाकर बस में आ गयी।

‘कहां है खाली सीट’ उसने चारों ओर देखते हुए सोचा।

‘अम्मा वहां सबसे पीछे से आगे वाली खाली है। सामान वहीं ऊपर रख दें’ कहकर कंडक्टर सवारियों को टेरेने लगा। ड्राइवर भी अपनी सीट पर आकर बैठ गया था और बस स्टार्ट हो गयी थी। कुछ सवारियां बहराई सी और कुछ आराम से बस में चढ़ने लगीं। बहराई सवारियां मालती को धकेलते हुए अपनी सीट पर जाकर बैठने लगीं। वो हिचकोले खाती कभी इधर, कभी उधर। पल्लू बार-बार सिर से सरक जाता।

बेटा ये सामान ऊपर रख दो हमारा... मालती ने एक दुबले पतले से सह यात्री से कहा।

उसने सामान ऊपर रख दिया। मालती को समझ में नहीं आया कि वो उस लड़के का अभिवादन कैसे करे। आजकल अंग्रेजी में कुछ कहते तो हैं ...गुड्डी को कहते सुना है उसने जब छुटकी को स्कूटर पर अपनी लड़की के साथ बिठाकर उसका पडोसी राकेश लाता है। जब तक मालती कुछ सोच पाती यात्री अपनी जगह पर जाकर बैठ गया था।

बस चलने लगी थी और दो जनों की सीट पर मालती अकेली बैठ गयी थी। उसे राहत मिली।

लेकिन बस फिर से रुक गयी और फिर एक अधेड़ से दुबले-पतले लंबे कद के बुजुर्गवार बस में चढ़े। उन्होंने चौखाने की भाद्रंगी सी नीली कमीज और मट्टी कलर की ढीली-ढाली पैंट पहन रखी थी। कंधे पर एक मैला सा बैग टांग रखा था।

दादा उधर बैठ जाओ अम्मा के कने सीट खाली है।कंडक्टर ने कहा।

आदमी मालती के पास आकर रुका। उसने अपना सामान सीट के नीचे रखा और सिकुड़ा सा बैठ गया। मालती भी सिमटकर बैठ गयी और उसने पल्लू को माथे तक खिसका लिया। बस में रौनक थी। लोग हँसी-ठठा कर रहे थे। बुजुर्ग अपने जोड़ीदार से बातें कर रहे थे। नई नवेली बस अपने संपूर्ण जोशो खरोश के साथ भागी चली जा रही थी।

कुछ देर में बुजुर्ग ने अपने कपडे के थैले में से एक पैकेट निकाला। खोलते ही अचार की खुशबू बस में फैल गयी।

‘खाएंगी क्या खाना’ बूढ़े की आवाज गंभीर और परिपक्व थी।

नहीं ..मालती ने सर हिला दिया। और भीतर तक सिहर गयी। पराया मरद वो भी उससे खाने को कह रहा है। एक बार फिर वही दूसरे मन ने दोहराया। ‘गमट्टी और बूढ़ी’ होने की बात। मालती चुपचाप बाहर देखने लगी। हालांकि मन तो पूरा ‘नई सवारी’ में लगा था।

अकेली हो? आगंतुक ने गुस्सा तोड़ते हुए कहा-

हओ ..मालती ने खिड़की से बाहर देखते हुए सर हिला दिया .. नहीं नहीं ..अकेले नहीं...

उसे अपनी गलती का अहसास हुआ ... अकेला बोल दिया तो..।

अरे अकेले यात्रा कर रही हैं तो उसमें कैसा संकोच ...हमें तो दिखता है कि अकेली हैं और पहली ही बार जा रही हैं. बाहर ..ठीक कह रहे हैं न? बूढ़े ने हलके से हँसते हुए कहा-

मालती चुपचाप डरी सी बाहर देखती रही। उसके दिल की धडकनें मारे डर के बढ़ गईं। बीच की चुप्पी में न जाने कैसे कैसे ख्यालात आते जाते रहे।

फिर आदमी ने बोलना शुरू किया।

‘हम इटावा से आ रहे हैं। हमारा नाम गंगा है।’

सुनकर मालती की हँसी फूट पड़ी...उसने मुहं पर पल्लू लगा लिया।

‘तुम्हें हँसी आ रही है? असल में हमारे पिता हमारा नाम गंगा सागर रखे थे। सब लोग हमें गंगा चच्चा, गंगा फूफा, गंगा दादा कहकर पुकारते हैं। और जानती हो हमारी पत्नी जो तुम्हारे जैसी ही संकोची और सीधी साधी थीं उन से कोई जनगणना वगैरह के लोग जब हमारा नाम पूछते थे तो क्या जवाब देती थी?’

मालती चुपचाप सांस रोके बैठी रही।

टोंटी वाला लोटा ..कहकर वो हँसने लगे।

मालती चुपचाप बस की खिड़की में सी बाहर की ओर देखती रही।

अबकी बार बातचीत के अंतराल में मालती ने अपने पति बाबू के बारे में सोचा। तीन चार बार गयी है वो बाबू के साथ बस में बैठकर। बाबू जरा भी बोलना पसंद नहीं करते थे और अपना परिचय देना-लेना तो बिलकुल भी नहीं।

तभी बुजुर्गवार ने फिर बोलना शुरू कर दिया

असल में दूसरे गांव से आ रहे हैं। कल संझा से चले थे सो कुछ खाया नहीं था। सलहेज ने अचार परांठे रख दिए थे बना के। कल मन नहीं किया। अब थोड़ी भूख सी लगी है बस...। अभी दो महीने पहले ही हमारी पत्नी का स्वर्गवास हुआ है। तब उन्हीं ने हमारा जिम्मा ले रखा था। यात्रा का खूब इंतजाम करके भेजती थीं वो हमें। लू न लग जाए इसके लिए छोटा तौलिया, पानी का थर्मस, साबुन की टिकिया, चद्दर ...सब। बुजुर्ग बोलते चले जा रहे थे था और मालती की धडकनें उन्हें घबराई हुई सुन रही थीं। मालती ऐसे बैठी थी जैसे उसे उस नई सवारी से कोई मतलब नहीं। वो खिड़की में से बाहर देख रही थी। ‘खिड़की न होती तो’ उसके मन में कहीं ये भय भी करवट ले रहा था। पराए मरद की इतनी निकटता उसने तो पहली बार ही महसूस की है। बाबू होते तो। उसे याद आया एक वाकया जब देवर के ब्याह में नई उमर की बिटिया - दुल्हनों ने उसे नाचने को खड़ा कर दिया था। बाबू इतने नाराज हो गए थे कि बीच ब्याह में उसे लेकर घर चले गए थे और घर जाकर।

बस में गाना फिर जोर जोर से बजने लगा था। वही ..चिकनी चमेली। बस जंगलों, बस्तियों, इमारतों, गांवों सबको पीछे छोड़ती भागी जा रही थी।

‘छुटकी के स्कूल से आने का बखत हो गया होगाआज कौन उसे लेकर आएगा’ मालती का मन घर में लगा था। बहू गुड़ी कह रही थी कि रग्घू ने उसे तीरथ पर भेजने के लिए पूरे चार हजार खर्चा किए हैं। क्यूं किए? तीरथ की क्या जरूरत थी। घर में ही क्या बुरे थे? हमारे लिए तो

घरई तीरथ है। बताओ, चार हजार में तो दो महीने का गेहूं पटक लेते तो काम आता। यहां अनजाने लोगों के संग भेज दिया वो भी चार हजार खर्चा करके....अरे दो हजार ही सही हमारे हाथ पे रख देते तो देख तो लेते कि कैसा लगता है अपने हाथ से अपने मन की चीज खर्चने में? मालती और उदास हो गयी।

‘बीड़ी जलाई ले...दूसरा गाना बजने लगा था।’

‘भैया कित्ते बजे हैं? एक बुजुर्ग ने मालती के पास बैठे आदमी से पूछा

उसने हाथ घड़ी देखकर कहा ‘सवा बारह होने को हैं।’

अरे बस रोको पिसाब जाना है हमें ...एक बूढ़े ने मरियल सी आवाज में कहा। बस वाले ने शायद सुना नहीं। बस यूं ही बहराई सी भागी जा रही थी। ऊपर से कानफोडू गाना ...। मालती की बगल में बैठे बुजुर्गवार उठे और केबिन के निकट जाकर उन्होंने कांच को खटखटाकर इशारे से बस रोकने को कहा। बस चीं करती रुक गयी।

जाना तो हमें भी है बाथरूम ...पर अकेले ...वो भी सामान बस में छोड़कर कैसे जाएं ...अभी मालती सोच ही रही थी कि बगल में बैठा आदमी बोला ‘तुम्हें जाना है क्या बाथरूम?’

उसने संकोच में हां में सिर हिलाया।

जाओ तो हो आओ...

लेकिन चश्मा तो टूटा है। कहीं बाथरूम में फिसल गयी तो और मुसीबत ..कोई है भी नहीं साथ ...और देरी हो गयी निकलने में और बस छूट गयी तो.... मालती सोचकर सिहर गयी।

नहीं-नहीं ठीक है बस उसने कहा।

‘अरे सामान उमान हम देख लेंगे तुम्हारा भाई। जाओ हो आओ ...फिर न जाने कहां रुकेगी ... बूढ़े ने फिर कहा।’

अब चश्मे की बात कैसे बताए ...मालती मन ही मन सोच रही थी।

‘नीचे जाने में डर रही हो? आदमी हँसते हुए बोला। चलो हम चले चलते हैं ...कहकर वो उठ खड़ा हुआ। देखो बाथरूम रोकना नहीं चाहिए... गुर्दे खराब हो जाते हैं ...आओ चलो ...।’

मालती यंत्रवत सी उसके पीछे पीछे चल दी। उसने घूँघट थोड़ा और आगे को खींच लिया। और धीरे से सफाई दी ‘असल में हमारा चश्मा टूट गया है’।

बस की सीढ़ियां कुछ ऊंची थीं। मालती वहीं खड़ी रह गयी। बूढ़ा समझ गया। वो बस से नीचे उतर आया और अपना हाथ मालती की तरफ बढ़ाकर बोला ‘आ जाओ पकड़ लो हाथ... गिरोगी नहीं।’

किसी गैर मरद का हाथ? नहीं ... ये नहीं हो सकता....मालती कांप सी गयी।

हम उतर जाएंगे धीरे-धीरे ..कहकर मालती उतरने लगी लेकिन लड़खड़ा गयी। बूढ़े ने हाथ पकड़कर उसे उतारा। केबिन में बैठे वो छोकरे उन्हें देख रहे थे। मालती सकपका गयी।

‘बस-बस अब चले जाएंगे’ ...कहकर मालती ने झटके से हाथ खींच लिया।

‘देखो वो महिलाएं जा रही हैं न बस वोही है बाथरूम, चले जाओ’ ...कहकर बुजुर्ग पास की दुकान पर चला गया।

मालती जब बाथरूम से लौटी तो एक जैसी बसों को कतार में खड़ी देख डर गयी। अरे कौन

सी बस थी उसकी? वो घबराकर देखने लगी। तभी एक बस वहां से चल दी। मालती घबराकर चीखी 'अरे भैया हम बचे हैं ...हमें भी ले चलो...'।

तभी बूढ़े ने आगे आकर कहा 'अरे अपनी बस तो जे खडी है काहे घबरा रही? कहकर वो हँसा। मालती झेंप गयी।

तो चाय पियो ..बूढ़े ने चाय का प्याला मालती को देते हुए कहा

मालती ने मना किया लेकिन बूढ़ा नहीं माना 'अब पांच रुपैया खरचा करके ली है पी लेओ' कहकर उसने बहुत आत्मीयता से कप मालती को पकड़ा दिया। चाय पीते हुए मालती को बहू गुड़ी की तीखी आवाज याद आई। सुबह चाय पीनी दूभर कर देती है उसका। 'अरे जल्दी पियो न चाय ...छुटकी की स्कूल की बस छूट जाएगी ...डुकरिया को तो बस चाय पीने की पड़ी रहती है'...चाय का स्वाद अचानक कसैला सा लगा उसे 'लाओ हम ले जाते हैं प्याली ...कहकर बूढ़े ने उसके हाथ से कप ले लिया और दुकान पर दे आया। 'आ जाओ बस में' कहकर उसने फिर से मालती का हाथ पकड़ लिया।

नहीं नहीं हम चढ़ जाएंगे ...कहकर मालती गोडे पकड़कर धीरे-धीरे बस में चढ़ने लगी।

बस फिर दौड़ रही थी घरों, मवेशियों, जंगलों, कस्बों, गांवों को छोड़कर। बूढ़ा फिर मालती की बगल में बैठ गया था। अब उसने अपने बैग से एक किताब निकाल ली और चश्मा लगाकर पढ़ने लगा।

आदमियों में भी इत्ता फरक होता है क्या? मालती सोच रही थी। उसे बाबू का खुर्राट और हमेशा क्रोध में तमतमाया चेहरा याद आ गया।

बस, बड़े दरख्तों और मैदानों, पहाड़ों सबको पीछे छोड़ आगे भागी जा रही थी। मालती का अतीत उसकी आंखों में उतर रहा था जैसे शाम उतर रही थी।

कित्ती डरती थी वो अपने पति 'बाबू' से। और कित्ता डरवाते थे बाबू उसके डर को? साग में जरा सा नमक ज्यादा कमती हो जाए या चाय में चीनी पत्ती ऊपर नीचे तो बरतन फेंक देते थे उठाकर। कोई मेहमान भले ही वो मालती का भाई ही हो घर आए तो माथे तक घूंघट निकालकर उससे बात करनी पड़ती थी। पराए मरदों या 'मानों' के सामने आने में तो साफ मनाही थी। कभी वो रोती तो सास कहती 'बामन ठाकुर गुस्सैल न होगा तो भंगी चमार न हो जाएगा? ये ही तो फरक होता है जात जात का। न मरद को अपना जात छोडना चाहिए और न जनी को अपना लाज।' सिर से सरकता पल्लू मालती ने फिर से ठीक कर लिया।

अब बस में शांति थी। कोई सो रहा था, कोई बातें कर रहा था। बगल में बैठा बुजुर्ग अभी भी किताब पढ़ रहा था और मालती की यादें बस की रफ्तार का पीछा कर रही थीं। काफी देर तक यूं ही चलता रहा।

अचानक एक झटके के साथ बस रुक गयी। केबिन में से कंडक्टर बाहर आया और बोला 'चलो सब उतर जाओ खाने का टैम हो गया।'।

चलो भाई...कहकर मालती की बगल में बैठे बुजुर्ग ने जम्हाई ली 'चलो खाना खालें।'।

'नहीं मेरा तो आज उपास है...मालती ने झूठ बोल दिया।'।

बूढ़ा कुछ पल मालती की ओर देखता रहा फिर बोला 'अरे तो का भूखी रहोगी पूरा दिन?'

तबीयत ना बिगड़ जाएगी? अरे यात्रा वगेरह में तो भगवान् भी छूट दे देते हैं..चलो खा लो।’

‘नहीं-नहीं हम नहीं खाते। कहकर मालती खिड़की से बाहर झांकने लगी जैसे बातचीत में गठान लगा दी हो।’

ठीक है फिर... कहकर बुजुर्गवार बस से उतर गए। न जाने कब मालती को खिड़की से टिके टिके नींद आ गयी। इस छोटी सी नींद के टुकड़े में मालती ने बाबू को गुस्साते देख लिया। वास्तव में उसकी नींद तो उसी गुस्से से टूटी। वरना तो पिट गयी होती सपने में.. इत्ता बड़ा पाप किया था उसने गैर मर्द की बगल में बैठने का ही नहीं उसको छूने का भी। न जाने क्यों उसे लग रहा था जैसे बाबू अदृश्य हो कहीं से उसे मर्द की बगल में बैठे देख आग बबूला हो रहे हैं।

कंडक्टर चिल्लाकर सबको बुला रहा था। ‘चलो भाई शाम हो रही है... रात होने से पहले अजमेर पहुंचना है ‘लोग बाग चढ़ने लगे थे। आधी से ज्यादा बस भर गयी थी लेकिन बूढ़ा नहीं आया था।

मालती की बैचेनी बढ़ने लगी।

अरे न आए तो न सही ...उसे क्या ...यात्री ही तो है! वो क्यों बैचेन हो रही है उस गैर मर्द के लिए। ‘लेकिन घबराहट थी कि कम ही नहीं हो रही थी। उसने टूटा चश्मा फिर पहन लिया और उसकी तनी को हाथ से पकड़कर खिड़की में से बाहर देखने लगी। कहीं दिख भी तो नहीं रहे...कहां चले गए’ वो सोच रही थी।

बस सरकने लगी। मालती की घबराहट तेज हो गयी। उसने बस में सबको देखा। सब अपने अपने में मस्त थे। उसने एक बार फिर अपने बगल की खाली सीट को देखा और फिर घबराकर बाहर देखने लगी। बस अब भी सरक रही थी। चलो भाई गेट बंद करो ..आ गए सब, जैसे ही कंडक्टर ने कहा- मालती खड़ी हो गयी और जोर से चिल्लाई- ‘भैया वे नहीं आए हैं अभी।’

‘कौन?’ कंडक्टर ने पूछा।

‘अरे वे ही जो हमारे कने बैठे थे।’

बस के केबिन में बैठे लड़के एक दूसरे की ओर देखकर हँसने लगे।

रोको भैया... अभी एक डोकर रह गया है नीचे... कंडक्टर ने कहकर सीटी बजाई। बस फिर चीं... चीं करती रुक गयी।

कंडक्टर गुस्से में नीचे उतरा। चारों ओर देखने लगा। मालती की घबराहट बढ़ती जा रही थी। उसने बूढ़े की सीट पर रखा अंगोछा उठा लिया और अपने पास रख लिया। उसके सामान को सीट के नीचे एक बार झांककर देखा और फिर से खिड़की के बाहर देखने लगी।

बूढ़ा दूर से भागता हुआ गिरता-पड़ता सा चला आ रहा था। वो जैसे ही बस में चढ़ा कंडक्टर चिल्लाने लगा। कहा चले गए थे दहू ...ऐसा अब नहीं चलेगा ...किसी बस उस के नीचे दब गए तो हमारी जान पे आ जाएगी ..चलो बैठो अब ..

अरे माफ करना भाई। दवाई लाना भूल गया था। रोज लेनी पड़ती है न। बस जरा दवाई की दुकान थी अड्डे के बाहर वही लेने गया था सो देर हो गयी।

चलो चलो ..बैठो अब कहकर कंडक्टर ने फिर से सीटी बजा दी।

मालती फिर तटस्थ सी बैठ गयी हालांकि उसके मन में कोहराम मचा हुआ था। पूछना चाहती थी कि कहां रह गए थे? बस चल देती तो? तुम रह जाते तो मेरा क्या होता? इतना हांफ रहे हो

लो पानी पी लो...लेकिन न जाने होंठ थे कि सिल ही गए थे। वो बस से बाहर देखती रही। 'बाबू' अब भी अदृश्य गुस्साए से उसकी ओर ही देख रहे थे।

सुनो....'बूढ़े ने मालती से कहा।'

मालती ने सकुचाते हुए उसे देखा।

ये लो- सेव और केले लाया हूं खा लो। यात्रा और परदेस में भूखे रहना ठीक नहीं, फलाहार है। जब वो उसे पोलीथिन दे रहे थे तब मालती ने देखा उनके कमीज की बांह कलाई से फटी हुई थी और वो झूलकर नीचे को गिर रही थी।

'अरे इसकी सिलाई करना थी ..हमें आती नहीं है पत्नी ही करती थी... अब जाके करेंगे... कहकर झेंपते हुए से वो हँसे।

मालती ने संकोच से पोलीथिन ले ली और एक सेव अपने सहयात्री बूढ़े की और बढ़ा दिया 'तुम भी ले लो' उसने कहा।

'नहीं नहीं तुम खाओ ...हम तो अभी नीचे भोजन करके ही आ रहे हैं। ये उन दोनों के बीच में पहला सीधा संवाद था।'

अरे लेकिन ...मालती कुछ कहती उससे पहले ही बूढ़े ने बात काटते हुए अधिकार से कहा 'खा लो अब ..नखरे मत करो...यहां कौन है तुम्हारा ..तबीयत बिगड़ गयी तो लेने के देने पड़ जाएंगे।'

मालती ने संकोच के साथ सेव खाना शुरू कर दिया।

बूढ़ा फिर किताब खोलकर पढ़ने लगा था और मालती खिड़की से टिकी ऊंधने लगी।

शाम की धुंधलाहट बढ़ती जा रही थी।

ठंडक बढ़ गयी है थोड़ी। कोई कंबल लाई हो तो निकाल लो। मालती कुछ कह पाती इससे पहले ही वृद्ध ने ऊपर रखे सामान में से वो नीला बक्सा दिखाते हुए कहा 'यही है न तुम्हारा सामान?'

'हां, लेकिन उसमें नहीं होगा। ये थैलियां हैं हमारे कने इसी में ...।'

ठीक है ..निकाल लो फिर ...कहकर वृद्ध फिर से अपनी सीट पर बैठ गए।

मालती ने थैली को खोला। कपड़े की चीकट थैली जो कई जगह से उधड़ी हुई थी उसमें सामान खाखोरने लगी।

'क्या हुआ नहीं है क्या? वृद्ध ने पूछा।'

हां शायद बहू रखना भूल गयी ..मालती ने संकोच से कहा।

कोई बात नहीं हमारे पास है एक ..तुम ओढ़ लो

अरे नहीं ...हमें बिलकुल जाड़ा नहीं लग रहा

अरे ले लो ये खेस .. अपने बूढ़े हाड हैं ...ठंड घुस गयी तो मुश्किल हो जाएगी कहकर बूढ़ा हँसा और खेस उसे दे दिया।

अब आराम से टिककर सो लो।

हां ..कहकर मालती खिड़की से टिक गयी। लेकिन नींद कहां।

उसने एक बार बगल में बैठे वृद्ध की ओर देखा। वो चश्मा लगाकर अब भी कोई किताब पढ़ रहे थे।

इनका परिवार भी तो होगा? इनके भी तो बहू बेटे या बेटियां होंगी पूछा ही नहीं। कितनी मूर्ख है वो उसे लगा। बचपन से लेकर अब तक उसे तो ऐसे डराया गया है जैसे मर्द कोई जानवर होते हैं। जब वो छोटी थी तो अपने बाप के सामने भी आंखें ऊपर करके बात नहीं कर पाती थी, और शादी के बाद तो, गैर मर्दों को तो क्या अपने बेटे तक को उसके जवान होने के बाद आंख भर नहीं देखा उसने। जबकि बेटा पैदा उसी ने किया। अब बहू का पूरा राज चलता है उस पर। हमें सब कायदे कानून सिखा हमारे मां बाप चले गए और जोर जबरदस्ती से हम पर बंदिश लगा पति 'बाबू' भी। हम अकेले भी रह सकते हैं इत्ती डरावनी दुनिया में ये कभी ना सोची उन औरन ने?

अचानक मालती को जैसे कुछ याद आया। बस अड्डे पर बेटा रग्घू कुछ संतरे खरीदकर दे गया था जो थैली में रखे थे। उसने वो निकाले और दो संतरे वृद्ध की ओर बढ़ाकर कहा 'ये बेटे ने रखे थे हमारे लिए...खा लो' वृद्ध ने कुछ कहना चाहा लेकिन फिर संतरे ले लिए।

तुम भी खा लो...वृद्ध ने कहा।

नहीं ..तुमने सेव खिला दिए न तो अब भूख नहीं है।

ठीक है कहकर वृद्ध संतरा छीलने लगे।

एक बात पूछें तुमसे? मालती ने कांपती सी आवाज में कहा।

अरे क्यों नहीं पूछो न। अच्छा लगा कि तुमने हिम्मत की।

मालती भी मुस्कुरा दी।

तुम्हारे भी पत्नी और बच्चे होंगे ..कहां रहते हैं वो?

वृद्ध कुछ देर चुपचाप संतरे की फांकें अलग करते रहे।

हां ..पत्नी हैं नहीं, थीं। ..अभी दो महीने पहले ही उनका देहांत हुआ। बहुत सीधी सरल महिला थी। वो तो घर गृहस्थी में जुटी रहीं। हम सरकारी मास्टर थे कई गांवों-कस्बों में तबादले होते रहे। अभी छः महीने पहले ही रिटायर होने के बाद घर आए थे। अपनी जिम्मेदारियां पूरी कर दिए। एक ठो मकान बना लिएएक बिटिया है ..ब्याह कर दिए। एक बेटा है उसका विवाह भी हो गया है। एक बच्ची भी है उसके ...।

बेटे के घर जा रहे हैं?

नहीं ...वहां से आ रहे हैं ..वो हमारा ही घर है। वो भी अब 'था' हो चुका है ..कहकर वृद्ध हँसे ..। अरे बताओ इतनी बातें कर लीं लेकिन तुम्हारा नाम तो पूछा ही नहीं हमने।

कुछ झंपते हुए 'मालती'.. कहकर वो खुद ही चौंक सी गयी। कितने दिन बाद उसने अपना नाम अपने मुंह से लिया है। वरना वो तो अम्मा, जीजी, चाची, रग्घू की मां जैसे संबोधनों को ही अपना नाम समझने लगी थी। कितने टुकड़े जो हो गए थे उसके नाम के? अब जैसे उन टुकड़ों को बटोरकर उसने उन्हें एक करके अपना नाम फिर जोड़ा था 'मालती'।

अच्छा नाम है '..हमारी पत्नी का नाम इंदुमती था। ...क्या बताएं ...था कहने में जीभ कांपती है हमारी लेकिन...कहकर वृद्ध उदास हो गए।'

'हमारे पति को भी करीब इतना ही समय हुआ है, नहीं रहे। मालती ने कहा।'

अरे....! बच्चे कितने हैं?

बस एक बेटा ...'पांच बरस पहले ब्याह हुआ था उसका। अब एक तीन पोतियां भी हैं।'

‘उन्हीं के साथ रहती हो?’

‘हां।’

भाग्यशाली हो। बेटे तो अच्छे ही होते हैं मालती, बहू अच्छी मिल जाए तो बाकी का जीवन भी सुधर जाता है ..है न!

‘हां सही बात है’ ..कह तो दिया मालती ने लेकिन एक अजीब सी बैचेनी उसे घेरने लगी। मालती हैरान थी वृद्ध की बातें सुनकर ...उसे तो ये पता ही नहीं था कि उस जैसी बेपट्ट गंवारू औरत के साथ वो भी कोई मर्द उसका नाम लेकर इतने अपनापे और सभ्यता से बात कर सकता है।

अरे का हुआ? कहां खो गई मालती ?... ऐसा ही होता है। जानते हैं पति की याद आ गयी होगी लेकिन क्या किया जा सकता है ..‘एक बात कहें मालती मानोगी?’

‘हां कहो।’

‘डरते पापी लोग हैं ...जो तुमने नहीं किए ..इसलिए डरना छोड़ दो... हम देख रहे हैं तुम बहुत डरी हुई सी रहती हो।’



कविता

सतीश जायसवाल

सुख

मन के पड़ोस में
दुःख का वास
और दूर, उजाले में
झिलमिल सा
शायद वही होगा सुख

अँधेरे में दुबका
घात लगाए
रहा रात भर, दुःख
दूर, फिर भी सुरक्षित
दिन के उजाले में, सुख

पता है
सुख को
दुःख का डर
अँधेरे में रहता है
उजाले से डरता है
घातक दुःख

किसे पता, कैसा होगा
वहां, दूर पर दिखता
उजाले में झिलमिल
सुख, किसके लिए....

दुःख

बहुत गया
थोड़ा बचा

होने को पार
डूबता-उतराता
घना अंधकार

लहराती रोशनी सी
एक धार
दूर उस पार
दिलासा दिलाती
पास बुलाती
कोई सुबह

इतनी सफेद
इतनी सपाट
जैसे बिना रात
ना नींद ना सपना
जैसे दुःख
बिना सुख....

चूहा और आदमी

बाहर उजाला
भीतर अँधेरा

एक घर है
चमक रहा है
उजाले में
उजाला दूर है

दरवाजे पर ताला
दीवारों पर जाला
घर के भीतर
अँधेरे का बसेरा है
सूना सन्नाटा है
एक चूहा है

कुतर रहा है
धीरे-धीरे ग्रस रहा है
आदमी को समय....

आदमी की जगह

वहां कोई नहीं रहता
जहां मैं रहता हूँ

क्या कहीं कोई रह सकता है
जहां कोई नहीं रहता

एक जगह है
जहां कोई नहीं रहता
एक आदमी है
वहां रहता है

कैसे कोई रहता होगा वहां
जहां कोई नहीं रहता
जैसे एक आदमी
रहता है वहां

सचमुच कोई नहीं
रहता वहां
हां, सचमुच
एक अकेले उसके सिवाय

कैसा होगा वह, ऐसा
एक आदमी का अकेले होना
जैसे उस आदमी का होना
पूरे का पूरा, किसी टूट-फूट के बिना

कितना अजीब होगा
ऐसे किसी आदमी का होना

हां, ऐसा ही है
एक आदमी का होना

फिर भी है एक आदमी ऐसा
और एक जगह आदमी के होने की
आदमी के होने से है होना
किसी जगह का होना....

शून्य बिंदु

सब कुछ यहां नया-नया
अभी, बिलकुल अभी का
जगमगाता-चमचमाता
और महकता एकदम ताजा-ताजा
कहीं, कुछ भी पुराना नहीं
यहां, इस जगह
मय दानव की माया से
उगी होगी
पिछली रात की रात
यह बस्ती
अब यहां से शुरू होगा
घरों का बसना
और लोगों का रहना
शून्य बिंदु यह
कितना भयावह
बिना किसी स्मृति के
कहीं, होना कोई जगह ...



कुमार मुकुल

पचास की उम्र को छूते हुए

आईना देखना याद नहीं रहता अब
दाढ़ी बनाते वक्त भी
चेहरा दिखता नहीं अकसर
लोगों का मुकाबिल होना ही
बताता रहता है खुद की बाबत
झूठी प्रशंसाएं भी
बताती हैं कुछ-कुछ
हाथों की पकड़ मुकम्मल है
पांव खूबसूरत हैं जैसे ही
उन्हें तो आईने की जरूरत नहीं पड़ी कभी
सोलह के वय के छोटे बेटे से पंजे लड़ाता
खुश होता हूं कि उस उम्र में मुझमें
कहां था यह बांकपन

चश्मे का नंबर बढ़ता जा रहा
पर दृश्य अब भी उद्वेलित करते हैं वैसा ही
किसी बात को पकड़कर
लडकियां कहती हैं जब तब
कि अब
उम्र हो रही आपकी
तो
हँसता हुआ कहता हूँ
हां, यह तो है...
आमिर-शाहरुख का हमउम्र हूँ आखिर ।

उनका मोक्ष

मिजाजवादी स्वप्न की
लाशें नोंचते कुत्ते
मसान में ढूँढते हैं मोक्ष
अपने आकाओं की दुमों पर
सात आसमान झूलते
उनके अहास्वप्नों में मोक्ष तलाशते वो
हैं हैं हीं... हीं... करते
जिंदगी और मौत की खबरों के बीच खेलते
तानते हैं वे मोक्ष को
जनता और मालिकों के बीच
और हुलकाते हैं उन्हें
कि वे भी भागें जीवन को छोड़
पूँजी-प्रसूत मोक्ष की ओर
मालिक और शोहदों के पीछे
ताज से सीकरी तक
उनकी गाड़ियों में लद-लदाकर चलना ही
मोक्ष है उनका
मालिक के चरणों में लोट लगाकर
उनके शोहदों को
अपने पांवों में लोटने को प्रेरित करना ही
मोक्ष है उनका ।

लड़कियों ... सुंदर हो तुम

लड़कियों ... सुंदर हो तुम
अपनी बेफिक्री में, बेबाकी में अपनी
अपने प्रतिरोध में...सुंदर हो तुम
कि यारी में किसी से मांगकर खाने में परहेज नहीं तुमको
परहेज नहीं है किसी को दो टूक सुनाने में
कि 'हम भी हैं मुकाबिल' यह भूलती नहीं हो तुम
सिरचढ़ों को धूल चटाते शिकन नहीं आती माथे पर
कि छोटा कद तुम्हारे इरादों को कर नहीं पाता छोटा

ओढ़ना नहीं पसंद तुम्हें शालीनता का लबादा
नए मुल्ला-पंडित पसंद नहीं करते तुमको
और तुम भी घोषित तौर पर नापसंद करती हो उनको
मुंहजोर हो पर कामचोर नहीं हो
कि इतने सारे बाँसों के इशारे पर चलती
इस दुनिया में तुम
'आलवेज राइट' की चुनौती बन जाती हो
उनके प्रेरित मोक्ष के मुकाबले
चुनती हो शहादत और
जीती चली जाती हो
'अपने जैसा जीवन' ।

अखबार के सफ़ों पर

करगिल तिराहा
जिसे लोग चौक कहते हैं
क्योंकि आगे पीछे मिलने वाले
दो तिराहे मिलकर एक चौक बना लेते हैं
तो उस चौक से
पचास गज की दूरी पर
सड़क के बीचों बीच
एक मोड़ पर किसी गाड़ी के
धक्के से मारा गया काला कुत्ता
पूरे दिन रात पड़ा रहा
उसके मुंह से बहता खून
सड़क पर सूखकर
एकसार होता रहा
जैसे रोजाना की बर्बर हत्याओं की खबरों
से बहता खून अखबार के सफ़ों पर
अक्षरों में सूखता काला पड़ता जाता है
होली के आगमन के साथ
घटती ठंड और
बदलते मौसम की खुशी को संभालता
कुत्तों का झुंड गलियों, सड़कों को छोड़

उधम करता बहराने लगाता है
मरने को आतुर
क्या ऐसे ही बदलते मौसमों की खुशी में
बहके बच्चे, किशोर, लड़कियां
मार दी जा रही हैं
बोलेरो, स्कार्पियो आदि बड़ी भव्य गाड़ियों
में खींचे जाकर या
उनके चक्कों तले दबाए जाकर ।

आदमखोर हो रहे लोग

अखबार छापते रहते हैं खबरें
भटके हुए तेंदुए और बाघिन के
पूरी फौज मय पुलिस अधिकारियों के
भागती है उनके पीछे
वे बचाना चाहते हैं उसके पंजों से
नागरिकों को
उधर झुंड के झुंड लोग
हो रहे आदमखोर
उनके लिए कुछ नहीं है
ना पिंजडे ना कालापानी ना अभयारण्य
उनकी आबादी को फिलहाल
कोई खतरा नहीं
अखबार उनकी खबरें छापते रहेंगे
तब तक जब तक वे अखबार के दफ्तरों में
घुसकर खाने नहीं लगेंगे खबर के सौदागरों को
जब तक वे थानों में घुसकर खाने नहीं लगेंगे
तथाकथित जांबाज सिपाहियों को
जब तक वे इस व्यवस्था की रेंड नहीं मार देंगे
वे बढ़ते रहेंगे अबाध
और अपनी अपनी व्यवस्था के खोखल में
मग्न तमाम लोग
देखते रहेंगे
अपने स्यापों को सुर्खियां बनते ।

कुमार विक्रम

अंत की शुरुआत

अंत में उसने कहा था
कि अंत में सब ठीक हो जाएगा
अंततः सबका भला होगा
मैंने सोचा था
अंत अंत में ही आएगा
मुझे यह इल्म नहीं था
कि अंत दरअसल
एक रोजाना खबर थी
और अंत अंत में नहीं
बल्कि हर पल
आने वाले अंत की
एक बानगी दिखाता जाएगा।

गरीब के संग

वक्त का तकाजा ऐसा था
कि जो अमीर के पक्ष में था खड़ा
उसके ईमान के बारे में
सब आश्वस्त थे
निश्चिंत थे
पर जो भी गरीब के पक्ष में था खड़ा
उसकी नीयत पर
किसी को नहीं था ऐतबार
यही अमीर की जीत थी

और यही गरीब की हार थी
और यही था वो सतत नियम
जो बदलने को तैयार नहीं था।

जब मैं महान कविताएं लिखता था

यह तब की बात है
जब मैं महान कविताएं लिखता था
और खुद उन्हें पढ़कर
अभिभूत सा रहता था
कुछ-कुछ धुंधला सा
ख्याल आता है कि
विश्व के हर कोने से
कवि-वर मुझसे कविता
और काव्य शास्त्र सीखने आते थे
अब न वो मैं रहा
न ही मेरी कविताई रही
न ही मेरे शब्दों में कोई तरुणाई रही
रह गयी तो सिर्फ उन शब्दों की ऐंठन
जिनसे मैं अब सबको बांधकर
पुनः अपने लिए
एक महाकाव्य रचना चाहता हूँ।

सच का डर

सच बोलने और डर का
कुछ अजीब ही रिश्ता है
सच बोलते बोलते
डर साथ-साथ होता है
सच बोलने से पहले भी
डर ठीक पीछे ही खड़ा रहता है
जैसे बड़ी होती लड़की के पीछे
उसका बचपन छाए में खड़ा होता है
सच बोलने के बाद

डर पूरी तरह पीछा नहीं छोड़ता
वो अपने अस्तित्व को
और वीभत्स बनाने में लग जाता है
सचमुच यह विचारणीय है
कि सुकरात सरीखों को
सच बोलते और दुहराते हुए
जहर का घूंट पीते हुए
डर की अनुभूति हुई होगी
या नहीं?
इतिहास के पन्नों में
सुकरात-सरीखों पर लिखे गए
जीवनियों में
शायद ही इस मसले का
कोई हल हमें मिल पाए
क्योंकि उनमें सच बोलने का डर नहीं
बल्कि सच बोल चुके व्यक्ति की
विजय-गाथा होती है
उसका हल शायद वहीं मिले
जहां कोई अभी किन्हीं गुमनाम गलियों में
सच डरते डरते बोल रहा हो।

पानी और पैसा

पानी की तरह पैसा बहाना
कोई उन्हें समझाए
कि सिर्फ एक मुहावरा ही है
उन दिनों ईजाद किया हुआ
जब पानी सब तरफ लबालब था
और पैसा अभी देवता नहीं बना था

कोई उन्हें समझाए
पैसे से पानी पर काबू पाना
मानो उंगली को आँखों पर रख
सूरज को ढक लेने का
भ्रम पालने जैसा है

कोई उन्हें यह भी समझाए
कि तीसरा विश्वयुद्ध पानी के कारण होगा
कोई मुहावरा नहीं है
बस कुछ मसखरों द्वारा
प्रलय से पहले
उसकी खिल्ली उड़ाने का जत्न करने जैसा है।



निशांत

प्यार की परिभाषा

प्यार की
कोई परिभाषा नहीं है मेरे पास

सुना है
दिमाग से तेज बच्चे
परिभाषाओं के उस्ताद होते हैं

मैंने जितनों से सुना है
प्यार की परिभाषा
और और और ज्यादा असंतुष्ट
हुआ हूँ मैं

मुझे एक बच्चे का
पता बता दो
जो प्यार की परिभाषा
बता दे।

मैं तुम्हें प्यार करता हूँ

एक सांप
डसता है मुझे

एक हंटर
चमड़ी उधेड़ देता है मेरा

एक जीभ
गाली देती है मुझे

एक देह
आग के बिस्तरे पर सुलाती है मुझे
दुनिया के सारे दुःखों पर
मलहम लगाता है एक वाक्य
'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।'

घर

रुपये पैसे
हीरा, मोती, सोना, चांदी
गाड़ी, बंगला, कपड़े, लते
सब है तुम्हारे पास
चांद, तारे
आसमान में नहीं
कविता में नहीं
यहां, ठीक यहां जहां तुम्हारी अंगुलियां
इशारा करती हैं
वहां चाहिए तुम्हें
बोरा भर रसद देकर
विदा करती हो मुझे
मैं हर बार
खाली हाथ लौटता हूँ
तुम्हारी जिद के सामने
हर बार हारता हूँ मैं
हर बार हारता है एक पिता
एक जिद्दी बच्चे के सामने।

ओ प्रेम, कितना कम जानता हूँ तुम्हें

चोरी, झूठ, मक्कारी
धोखा, फरेब, बेईमानी
गलत, सही, नाजायज
सब मिलकर खाक हो जाते हैं
तुम्हारे पास जाकर

तुम हो
जहाँ आकर
एक नया जन्म पाता हूँ मैं
तुम हो
जहाँ कुछ लेकर आना मना है
तुम्हारे यहाँ
खाली हाथ आने से
कहती हो तुम- स्वागत है तुम्हारा
ओ प्रेम
इतना जानने के बावजूद
कितना कम जानता हूँ, तुम्हें।

उस दिन से अब तक

उस दिन
सुबह-सुबह गेट पर खड़ी थी
उसी दिन सुबह-सुबह दिल ने धड़ककर बतलाया
निशांत, तुम जिंदा हो

तुम से मिलता रहा
जीवन को खरचता रहा

उस दिन
अंतिम बूंद निचुड़ गया
जिसे लिफाफे में बंद करके
तुमने कहा था- हाँ, मैं भी

खत्म तो मैं
उसी दिन हो गया था
अब, जो ये धड़कता है
मेरा नहीं
तुम्हारा है
जो मेरे सीने में धड़कता है।



उपन्यासकार अमृतलाल नागर पत्रों में

विजय शर्मा

1988 में मुझे एक सेमीनार में भाग लेने लखनऊ जाना था मगर मेरा उद्देश्य सेमीनार में भाग लेने से अधिक लखनऊ में अमृतलाल नागर, शिवानी और केपी सक्सेना से मिलना था। जब सेमीनार में मैंने अपने लखनऊ आने के उद्देश्य में यह बात भी शामिल की तो सेमीनार आयोजकों तथा संचालकों को यह बात थोड़ी अजीब लगी। उन लोगों का हिंदी अथवा हिंदी साहित्य से कोई लेना-देना न था हालांकि वे सब भारत के ही रहने वाले थे। केपी सक्सेना से मिलना बहुत खुशनुमा रहा। शिवानी इलाज के लिए बंबई गई हुई थीं।

अपने साथ एक लेक्चरर को लेकर चौक गई और वहां बिना किसी परेशानी के नागरजी के घर गई। वे उस समय 'करवट' का डिक्टेसन देकर उठे थे और बहुत प्रेम से मिले। वहां हमने उनका पुरातत्व का संग्रह देखा, खूब बातें हुईं और उन्होंने हस्ताक्षर करके अपनी किताबों और परिचय का कैंटलॉग दिया। उस दिन मैंने उनकी निश्छल और मुक्त हँसी के भी दर्शन किए।

उन दिनों रील वाला कैमरा होता था, सो नई रील भरकर गई थी। खूब फोटो खींचे। नागरजी के साथ, उनके घर के तथा उनकी संग्रहीत वस्तुओं के। हा! हत् भाग्य! अफसोस! जब कैमरा 36 क्लिक के बाद रील धुलवाने के लिए खोला तो पता चला रील ठीक से लगी ही नहीं थी। इस बात की कचोट सदा रहेगी। मैं लिखती हूँ यह जानकर नागरजी ने मुझे आशीर्वाद स्वरूप कहा कि- मैं नित्य कुछ न कुछ अवश्य लिखा करूँ। रोज लिखने की आदत जरूरी है। कुछ दिनों बाद उनका एक पत्र मिला।

यह अमृतलाल नागरजी का जन्मशती वर्ष है। साथ-ही-साथ उनके उपन्यास 'अमृत और विष' की अर्धशती भी है। अमृतलाल नागर का जन्म 17 अगस्त 1916 को आगरा के गोकुलपुरा नामक मोहल्ले में हुआ था। वे बीसवीं शताब्दी के एक बहुत बड़े कद के लेखक थे। उन्होंने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, फिल्म स्क्रिप्ट, जीवनी, हास्य-व्यंग्य, अनुवाद आदि विभिन्न विधाओं में लेखन किया। उन्हें काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रेमचंद पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, साहित्य अकादेमी समेत दर्जनों पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हुए।

'वाटिका', 'एक दिल हजार दास्तान', 'भारतपुत्र नौरंगीलाल', 'पीपल की परी', 'सिकंदर हार गया' आदि अमृतलाल नागर के कहानी संग्रह हैं। 'बूंद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'अमृत और विष', 'मानस का हंस', 'खंजन नयन', 'अग्निगर्भा', 'करवट' तथा 'पीढ़ियां' उनके

उपन्यास हैं। 'सुनीति', 'सिनेमा समाचार', 'चकल्लस', 'नया साहित्य', 'प्रसाद', 'सनीचर' आदि पत्रिकाओं का उन्होंने कुशलतापूर्वक संपादन किया। वयस्कों के साथ-साथ बच्चों के लिए भी खूब लिखा। वे स्क्रीनप्ले तथा फिल्म के संवाद लिखते थे। फिल्म में डबिंग का काम करते थे। इन सबके अलावा वे पत्र लिखने में भी कुशल थे। उन दिनों इंटरनेट और मोबाइल न था अतः पत्र द्वारा ही मुख्य रूप से संपर्क साधा जाता था। पहले उनके उपन्यासकार और कहानीकार रूप पर कुछ विचार फिर उनके पत्र लेखन पर कुछ बातें आपसे साझा करना चाहती हूँ।

शारीरिक डीलडौल तो उनका अच्छा था ही, हिंदी साहित्य में नागरजी का कद भी काफी बड़ा है। भले ही कुछ लोग उनकी अनदेखी करने का नाटक करें। खुद नागरजी को अवश्य इस बात का भान था तभी तो वे लिखते हैं, 'अगर कोई रबर से हिंदी साहित्य के इतिहास से मेरा नाम मिटाना चाहे तो रगड़ते-रगड़ते रबर घिस जाएगी; पर मेरा नाम जस-का-तस रहेगा।' प्रेमचंद, निराला, प्रसाद के समकक्ष उन्हें आसानी से रखा जा सकता है। जब हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों की बात चलती है तो सबसे पहले लोग आचार्य चतुरसेन शास्त्री का नाम लेते हैं, लेकिन नागरजी ने भरपूर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। उन्होंने इतिहास, और भारत की महान विभूतियों जैसे सूर-तुलसी पर उपन्यास रचकर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। 'गदर के फूल' हमारे निकट के अतीत 1857 को साकार करता है, इसमें उन्होंने स्वतंत्रता के लिए क्रांति का बिगुल बजने की कहानी अपने रोचक अंदाज में कही है। नागरजी ने बचपन से क्रांतिकारियों को देखा था। उनके घर ऐसे लोगों का आना-जाना था। 1919 में जालियांवाला बाग की खूनी हत्यारी घटना के समय वे बहुत छोटे थे मगर उनका पूरा बचपन इस नृशंस हत्याकांड की बात सुनते हुए बीता था। भले ही वे पूरी बात न समझते हों मगर उनके भीतर यह सब समा रहा था। अवश्य ही उन्हें ये बातें उद्वेलित करती होंगी। घर-परिवार में इन्हीं बातों की चर्चा चलती, इन्हीं बातों को किस्से-कहानियों के रूप में दोहराया जाता था। नागरजी ने किस्से कहना अपने परिवार से सीखा था। साइमन कमीशन वापस जाओ (साइमन कमीशन गो बैक) कहने के लिए वे बच्चे न थे। देश को स्वतंत्र कराने के लिए यह 13 वर्षीय किशोर भी प्रतिबद्ध था। इसी जुलूस में पुलिस का अत्याचार देखा और उनका किशोर मन व्यथित हो काव्य में फूट पड़ा। इस तरह कवि अमृतलाल का जन्म हुआ उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई।

अगर 'गदर के फूल' 1857 की अचर्चित कथा की कहानी कहता है तो 'शतरंज के मोहरे' बक्सर युद्ध के बाद के इतिहास की उपज है। इसमें वे अवध के नवाब और ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों को लाते हैं और कई ऐतिहासिक चरित्रों को उपन्यास के केंद्र में रखते हैं। इसमें नागरजी उस समय के समाज का यथार्थ चित्रण करते हैं वे दिखाते हैं कि इस काल में समाज में मूल्य और मर्यादाएं नष्ट हो चुकी थीं और लोग भोग-विलास में लिप्त हो चुके थे। अंग्रेजी साम्राज्य ने पूरी तरह लोगों को गुलाम बना लिया था। लोग चाटूकारिता को ही जीवन मान बैठे थे। किसी को देश की चिंता नहीं थी।

यह वर्ष अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' की अर्धशती है जिसके प्रकाशन को 50 वर्ष पूरे हुए हैं। यह उपन्यास हमारे समय के समाज पर खास कर मध्यवर्ग के जीवन को उकेरता है। अमृतलाल नागर के भीतर का रचनाकार परंपरा और आधुनिकता दोनों को साथ लेकर चलता है। इस उपन्यास का नामकरण कविवर सुमित्रानंदन पंत ने किया था। यह उपन्यास लिखने में उन्हें

बहुत समय लगा। इस बीच इसके कुछ अंश कहानी के रूप में स्वतंत्र रूप से विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इस उपन्यास पर उन्हें 1967 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

‘अमृत और विष’ नागरजी की रोचक कहन शैली से प्रारंभ होता है और अंत तक पाठक को बांधे रहता है। एक शताब्दी के लंबे कालखंड को समेटे हुए यह उपन्यास अपनी रचना शैली के अनूठेपन के लिए सदैव याद किया जाएगा। इसमें उनके अन्य उपन्यासों की भांति उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ, सकारात्मक सामाजिक दृष्टि और दार्शनिक चिंतन को देखा जा सकता है। वे विषय की गहराई में उतरते हैं और विस्तार से बातों को लिखते हैं। करीब 500 पन्नों का यह उपन्यास वास्तव में स्वतंत्रता पश्चात के भारत के समाज को दिखाता है। यहां कहानी के भीतर कहानी चलती है। एक उम्रदराज लेखक मुख्य रूप से दो कॉलेज छात्रों की बात कर रहा है। इसमें वर्णित बाढ़ का जीवंत दृश्य पाठक कभी नहीं भूल सकता है। यह उपन्यास पढ़कर आज का युवा पाठक पिछली सदी के भारत से परिचित हो सकता है।

‘मानस का हंस’ नागरजी वृहद उपन्यास है। तुलसीदास के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया ऐसा कोई और ग्रंथ मेरी नजर में नहीं आया है। यहां तुलसीदास एक सहज-सामान्य मानव के रूप में चित्रित हैं। इसकी अवधी भाषा कथा प्रवाह को रोचकता प्रदान करती है और प्रामाणिकता भी। चूंकि तुलसीदास की प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं थी अतः अपने मित्र फिल्म निर्देशक महेश कौल की बात को एक तरह से चुनौती रूप में स्वीकारते हुए उन्होंने यह उपन्यास लिखा है। स्वयं उन्हीं के शब्दों को लें तो यहां वे ‘मित्रवर महेशजी की बात के विरोध में चमत्कारी तुलसी से अधिक यथार्थवादी तुलसी की वकालत’ करते हैं। उन्हें बनारस की रामलीला में पूरे शहर को रंगमंच बना देने का ख्याल बड़ा शानदार लगता है। वे रामचंद्र शुक्ल के सुझाए शब्द ‘लोकधर्मी’ को तुलसी और राम दोनों में प्रतिष्ठित करते हुए तुलसीदास को संगठनकर्ता का दर्जा देते हैं। नागरजी का मानना है कि तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म का पोषण भले किया हो पर संस्कारहीन, कुकर्मि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को लताड़ा भी है। तुलसी का जीवन संघर्ष, विद्रोह और समर्पण से भरा हुआ है। उन्होंने ‘विनयपत्रिका’ के अनुसार तुलसीदास का मनोव्यक्तित्व खड़ा किया है और तमाम प्रचलित किंवदंतियों में से केवल उन्हीं को उपन्यास के लिए चुना है जो इस मानसिक द्वांचे के उपयुक्त हैं। इसे लिखने के लिए उन्होंने कई अन्य पुस्तकों के अलावा राहुल सांकृत्यायन की किताब ‘अकबर’ की भी सहायता ली है। उन्हें अफसोस है कि जब तक ‘मानस के हंस’ प्रकाशित हुई महेश कौल की मृत्यु हो चुकी थी।

‘मानस का हंस’ गोस्वामी तुलसीदास के जीवन वृत्त को नए ढंग से प्रस्तुत करता है वहीं ‘खंजन नयन’ महाकवि सूरदास के जीवन के कई अनछूए पहलुओं को उजागर करता है। यहां भी उन्होंने अपने सृजन की सामग्री कई स्रोतों से ग्रहण की है। ‘एकदा नैमिषारण्ये’ की कथावस्तु पुराण की तहें खोलती है। इसमें उन्होंने पौराणिक चरित्रों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

अमृतलाल नागर ने एक और उपन्यास लिखा है, ‘सुहाग के नूपुर’ नाम से। यह कहानी दक्षिण से आती है। इसकी भूमिका में वे लिखते हैं- ‘ईसा की प्रथम शताब्दी में महाकवि इळंगोबन रचित तमिल महाकाव्य ‘शिलप्पदिकारं’ भारतीय साहित्य की एक अनमोल रचना है। प्रस्तुत उपन्यास उक्त महाकाव्य की कथावस्तु पर आधारित होते हुए भी प्रायः एक स्वतंत्र रचना है।’ इसे वे लोकरंजक

उपन्यास कहते हैं। तमिल भाषा सीखते समय उन्होंने इस कथा को पढ़ा था मगर इसके पहले वे एक फिल्म पर काम करने के दौरान इसे कई बार सुन चुके थे। फिर वे डॉ. रामविलास शर्मा और राजेंद्र यादव के साथ दक्षिण यात्रा पर गए तो फिर से इस पर हिंदी में उपन्यास लिखने की बात उठी और तब उन्होंने इसे लिखा। उपन्यास से पहले इसे उन्होंने रेडियो नाटक के रूप में लिखा था जिसका प्रसारण हिंदी और तमिल दोनों में हुआ और खूब सराहना मिली। वे अपने लेखन के लिए खूब अध्ययन-मनन करते थे इस किताब के लिए भी उन्होंने इतिहास की खूब किताबों का अध्ययन किया। कुलवधू कन्नगी, नगरवधू माधवी, धनकुबेर कोवलन तथा चेलम्मा मुख्य रूप से इन्हीं चार पात्रों को लेकर रचा गया है यह उपन्यास। उपन्यास इन चारों की कहानी के साथ-साथ दक्षिण के प्रसिद्ध चोल राजाओं की राज्य-व्यवस्था एवं वहां की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भी प्रदर्शित करता है। प्रेम और लोक मर्यादा का द्वंद्व तो इसमें है ही। इस उपन्यास पर उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार का प्रेमचंद पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

इन दिनों हाल ही में कथाकार प्रभात रंजन लिखित 'कोठागोई' की खूब धूम है। वेश्याओं के जीवन पर जगदंबा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर' को भी याद किया जाता है लेकिन इसके बहुत पहले अमृतलाल नागर ने वेश्याओं के जीवन और उनकी समस्याओं पर सामाजिक सर्वेक्षण कर मौलिक उपन्यास 'ये कोठेवालियाँ' लिखा। असल में तत्कालीन राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने स्वतंत्रता के तुरंत बाद इच्छा जाहिर की थी कि कोई वेश्याओं से मिलकर उनके दुःख-सुख को लिखे। वे स्वयं यह काम करना चाहते थे लेकिन समयाभाव से यह संभव न था। नागरजी के पत्रकार मित्र रुद्रनारायण शुक्ल ने अपनी ओर से यह घोषणा कर दी कि यह काम वे करेंगे। खुद नागरजी को इसकी सूचना अखबार से मिली। बाल-बच्चों वाला होने के कारण नागरजी को यह बात लगी लेकिन पत्रकार बंधु गंभीर थे। नागरजी के घर पर हर शाम गोष्ठी जमती थी और भगवतीचरण वर्मा उसके वरिष्ठ थे। रुद्रनारायण शुक्ल ने वर्माजी को अपने संग कर लिया और मिलकर सबकी राय बनी कि नागरजी को यह काम करना चाहिए। संकोच के साथ उन्होंने काम शुरू किया और वे लिखते हैं कि इस विषय पर क्षेत्रीय खोज-कार्य (फील्ड-वर्क) के रूप में हिंदी में यह शायद पहली ही पुस्तक है। यहां भी वे वेश्याओं से जुड़े साहित्य का इतिहास खंगालते हैं।

उनका मानना है कि वेश्याओं के प्रति आकर्षण और वेश्यागामिता के प्रति संकोच-भाव दोनों साथ-ही-साथ मानव-सभ्यता के इतिहास में चलते रहे हैं। इसी संकोच भाव ने वेश्याओं के प्रति आकर्षण बढ़ा दिया है। नागरजी का कहना है कि स्त्रियों को खरीदने-बेचने का धंधा करने वाले स्त्रियों-पुरुषों को आजीवन कारावास की सजा देनी चाहिए। वे चाहते हैं कि लोकतांत्रिक सरकार और जनता मिलकर आंदोलन चलाए। इस पुस्तक को लिखने में उन्हें बहुत सारे लोगों का सहयोग मिला, खासकर वे अपनी पत्नी प्रतिभा से मिले सहयोग की बात लिखते हैं। अपने मित्र डॉ. रामविलास शर्मा की सलाह 'ये कोठेवालियाँ' उपन्यास उन्होंने अपनी जीवन-संगिनी को समर्पित किया है।

अमृतलाल नागर के बाबा रामजी ने उन्हें कहा था कभी किसी की निंदा न करना इसीलिए हम उनके लेखन में सकारात्मकता पाते हैं। वे अवध के जीवन में पूरी तरह रचे-बसे थे इसीलिए उनके लेखन में यहां का प्रामाणिक जीवन देखने को मिलता है। वहां का इतिहास, सामाजिक संरचना,

रीति-रिवाज, राजनीति सब पर उनकी पूरी पकड़ थी। अक्सर लिखने के लिए वे उन स्थानों पर जा कर रहा करते थे। 'मानस के हंस' तथा 'खंजन नयन' लिखते समय वे तुलसीदास और सूरदास से संबंधित स्थानों पर रहे। पात्र चित्रण ऐसा करते हैं कि वे सजीव होकर पाठक से बोलने-बतियाने लगते हैं। 'बूंद और समुद्र' तथा 'एकदा नैमिषारण्ये' की प्रेरणा उन्हें मद्रास प्रवास के दौरान मिली। 'एकदा...' के पीछे नेहरू का दिया भावात्मक एकता का नारा भी एक कारण बना। इसके लिए उन्होंने विश्व की विभिन्न सभ्यताओं के पुराण, मिथक का अध्ययन किया। अपने अध्ययन और मन में उठने वाले संशयों को वे इसकी भूमिका में विस्तार से लिखते हैं।

नैमिष आंदोलन को वे वर्तमान भारतीय या हिंदी संस्कृति का निर्माण करने वाला मानते हैं। उनका मानना है कि वेद, पुनर्जन्म, कर्मकांडवाद, उपासनावाद, ज्ञानमार्ग आदि का अंतिम रूप से समन्वय नैमिषारण्य में ही हुआ। परस्पर विरोधी संस्कृतियों को घुला-मिलाकर, अनेकता में एकता स्थापित करने वाली संस्कृति यहीं जन्मी, यह काम राष्ट्रीय दृष्टि के अंतर्गत किया गया। यहां भारत की दो मुख्य सांस्कृतिक धाराओं- ब्राह्मण और श्रमण का यहीं समन्वय हुआ। इसे वे अपनी इन्हीं वैचारिक हलचलों से उपजी कल्पनाओं का कथा-समुच्चय मानते हैं। करीब चार साल के अथक प्रयास का फल है यह पुस्तक। इस दौरान वे काफी समय तक नैमिष में श्री परमहंस गौडीय मठ में रहे।

उनकी विनोदी प्रवृत्ति देखनी हो तो उनके हास्य लेख पढ़ने होंगे। 'चकल्लस' पत्रिका इसका उदाहरण है। अपने बंबई प्रवास में उन्होंने करीब डेढ़ दर्जन पटकथाएं लिखीं। वहां उनकी कई फिल्मी हस्तियों से दोस्ती थी। वे चौक की भाषा और शयन कक्ष की भाषा दोनों में निष्णात हैं। कई भाषाओं में पारंगत नागरजी कर्म में विश्वास करते हैं। वे अपने एक नायक के द्वारा अपने विचार प्रकट करते हैं। उनका पात्र अरविंद शंकर कहता है- 'जड़-चेतन, भय, विष-अमृत मय, अंधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही गति है। मुझे जीना ही होगा, कर्म करना ही होगा, यह बंधन ही मेरी मुक्ति भी है। इस अंधकार में ही प्रकाश पाने के लिए मुझे जीना है।'

नागरजी इसी विचार के तहत जिए और इसी विचार के तहत उन्होंने विपुल लेखन किया। उन पर और उनके लिखे पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है लेकिन आलेख की सीमा को देखते हुए उनके व्यक्तित्व के दूसरे आयाम की ओर चलती हूं, जहां मेरा निजी अनुभव भी जुड़ा हुआ है। मुझे कुछ घंटों का उनका सानिध्य मिला और यह अनुभव मेरे जीवन को बहुत समृद्ध कर गया।

पत्रों में नागरजी

पत्र लेखन प्रथा आज विलुप्त प्रायः है लेकिन एक समय लोगों को जोड़ने का प्रमुख साधन पत्र हुआ करते थे। पत्र लिखने वाले के व्यक्तित्व के विषय में पत्र बहुत कुछ कहता है। अमृतलाल नागर ने परिवारजनों के अलावा अपने साहित्यिक मित्रों को पत्र लिखे। ये उनके निजी पत्र थे। आज उनके पत्र प्रकाशित होकर सार्वजनिक हो गए हैं। अमृतलाल नागर के ये पत्र हिंदी साहित्य की थाती हैं। उन्होंने बहुत अधिक संख्या में पत्र लिखे हैं लेकिन वे खुद को पत्र लिखने के मामले में आलसी व्यक्ति कहा करते थे। उन्होंने हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक-समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा को खूब पत्र लिखे। दोनों मित्र महाकवि महाप्राण निराला के प्रिय थे। अमृतलाल नागर और डॉ. रामविलास शर्मा की दोस्ती 30 साल से अधिक लंबी रही। इस बीच दोनों एक-दूसरे से बराबर मिलते रहे। साथ ही दोनों ने एक दूसरे को खूब पत्र लिखे।

इन पत्रों से हमें अमृतलाल नागर के सरल स्वभाव का पता चलता है। भाषा पर उनकी मजबूत पकड़ के दर्शन होते हैं। हिंदी को लेकर उनकी गहन चिंता और सरोकार दिखाई पड़ता है। लिखने के प्रति उनकी गंभीरता नजर आती है। वे रामविलास शर्मा के साथ मिलकर खूब योजनाएं बनाया करते थे। कभी नई पत्रिका निकालने की योजना बनाते तो कभी हिंदी को उसका उचित आसन दिलाने के लिए संघर्ष की योजना बनाते। उन्होंने अपनी भाव-निष्ठा से हिंदी के लिए संगठन खड़ा किया। जब हिंदी की अस्मिता पर आंच आ रही थी तो उन्होंने अनशन करने की योजना बनाई। हिंदी के स्वाभिमान के लिए वे प्राण देने को तैयार थे। रामविलास शर्मा को उन्होंने पत्र में लिखा कि यदि आवश्यकता पड़ी और अनशन द्वारा प्राणांत होने की नौबत भी आ गई तो रामविलास शर्मा का तो महज एक दोस्त ही जाएगा मगर उससे हिंदी के साहित्यिक गौरव और उसके स्वाभिमान की बिखरी चेतना में नए प्राण पड़ जाएंगे। वह संगठित हो जाएगी। इसके लिए उन्होंने अलग-अलग मुहल्लों में जाकर प्रतिदिन सभाएं कीं। उन्होंने मातृभाषा की इज्जत के लिए लोगों को एकजुट किया। लोगों से स्पष्ट कहा कि उनका यह प्रयास विशुद्ध साहित्यिक है। अनशन की नौबत न आई। सरकार ने हिंदी विधेयक पास किया तो वे सरकार की प्रशंसा भी करते हैं। दोनों मित्र मिलकर लिखने के नए-नए विषय चुनते और उस पर लेखन किया करते थे।

अमृतलाल नागर की लिखने में आस्था थी। उनके अनुसार लेखन कार्य की आस्था ही उनका स्थायी भाव है। वे नियमित रूप से लिखा करते थे और दूसरों को भी यही सलाह देते थे। अपने मित्र को उन्होंने एक पत्र में लिखा कि जब बहुत जोश आए तो कुछ लिख डालो। हिंदी वालों के दिल में हिंदी के लिए चाहत जगाओ। जब बढ़ती उम्र के कारण स्वयं लिखने में अवश हो गए तो इमला बोलकर लिखवाया करते थे। उन्होंने 'करवट' तथा 'पीढ़ियां' अपने दो अंतिम उपन्यास बोलकर ही लिखवाए थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे लेखन में सक्रिय रहे। 23 फरवरी 1990 को उन्होंने अंतिम सांस ली।

उपेन्द्रनाथ अशक ने उनके 'मानस के हंस' को पढ़कर सराहा था। अपने पत्र में उनके इसी प्रयास के प्रति वे कृतज्ञता अर्पित करते हैं। वे लिखते हैं कि 'मानस का हंस' पर अशकजी का पत्र पाने की उन्होंने आशा नहीं की थी। वे बेबाक लिखा करते थे। उन्होंने इस पत्र में उपेन्द्रनाथ अशक को लिखा कि उन्हें चिरंजीवी नीलाभ और दूधनाथ सिंह की प्रशंसा अपने लिए अधिक कीमती लगी। वे लिखते हैं कि अशक ने अपना उपन्यास लिखना छोड़कर उनका उपन्यास पढ़ा और उसे सराहा तथा पत्र लिखा। यह अशक की निश्चल, उदार-प्रकृति का प्रमाण है। अशक के अनुसार राम का अर्थ कर्तव्य है। नागरजी लिखते हैं कि यह कर्तव्यपरायणता ही उनकी राम-भक्ति है। उनका राम गैबी बिलकुल नहीं है। जितना कुछ है उसे वे यथार्थ के धरातल पर लाकर उजागर करते हैं। यही उनका संघर्ष है।

जब रामविलास शर्मा की षष्ठीपूर्ति पर लिखना था तो अमृतलाल नागर उनके वर्ष 1940 से वर्ष 1964 तक के लिखे पुराने पत्रों को सामने फैलाकर बैठ गए और अतीत की सुखद स्मृतियों में खो गए। ये पत्र लिफाफों, पोस्टकार्ड और अंतरदेशीय की शक्ल में थे। पत्रों के जरिए वे रामविलास शर्मा को एक व्यक्ति, एक दोस्त और एक साहित्यकार के रूप में याद करते हैं। निरालाजी ने दोनों का परिचय कराया था, जो प्रगाढ़ दोस्ती में परिवर्तित हो गया। उन्हें रामविलास रिजर्व टाइप लगे

जब कि नागरजी का स्वभाव खूब खुला और निःसंकोच था। दोनों को भाषा और शब्दों से लगाव था। वे शब्द विनोद किया करते थे। दोनों अंग्रेजी और यूरोप के दूसरे साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर चर्चा करते। ये सब बातें उनके बीच घनिष्टता की मजबूत कड़ी थीं। दोनों खूब बहस करते लेकिन कभी कटु न होते। पत्रों में भी यह सिलसिला जारी रहा।

1938 में अमृतलाल नागर ने 'चकल्लस' नाम से एक हास्य पत्रिका निकाली। इसका नामकरण शर्माजी ने ही किया था। इस पत्रिका का मैटर संजोने का जिम्मा रामविलास का था। यह कुछ नौजवानों का जोशीला सामूहिक प्रयास था। इस पत्रिका ने दोनों को और करीब ला दिया। दोनों मिलकर एक तख्त पर साथ बैठकर पत्रिका के लिए विभिन्न नामों से लिखा करते। इन लोगों ने एक त्रैमासिक पत्रिका निकालने का भी विचार किया। वे इसमें साहित्यिक तथा वैज्ञानिक लेख प्रकाशित करना चाहते थे ताकि स्कूल-कॉलेज में विज्ञान की पढ़ाई हिंदी में की जा सके। दोनों मिलकर हिंदी साहित्य की उन्नति के संबंध में कल्पनाएं करते। दोनों में काम करने का खूब जोश और उत्साह था।

कुछ लोग रामविलास शर्मा को ईमानदार लेकिन अहंकारी समझते हैं। नागरजी अपने पत्र में उन्हें निडर, विनम्र और विनयशील मानते हैं। नागरजी खुले मन से उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें सौम्य, गंभीर तथा विचारक मानते हैं। दोनों में ऐसी दोस्ती थी कि जब रामविलास शर्मा को डॉक्टर की डिग्री मिली तो बंबई में रह रहे नागरजी ने इसका समारोह मनाया। उन्हें लगा कि स्वयं उन्हें यह डिग्री मिली है। वे कहते हैं कि डॉक्टर तो रामविलास को मिली पर उसका नशा उन पर चढ़ा है। उन दिनों डॉक्टर शब्द की कीमत बहुत थी। आज की तरह यह डिग्री इतनी सहज-सुलभ न थी। रामविलास शर्मा जैसे मित्रों को पत्र लिखकर वे बंबई का अपना श्रम-ताप हरा करते थे।

नागरजी मस्तमौला व्यक्ति थे हिंदी और लेखन के प्रति पूरी तरह से समर्पित लेकिन उन्हें किसी पार्टी अथवा संगठन का सदस्य बनना पसंद नहीं था। हां, रामविलास शर्मा जैसे मित्रों के पत्रों से उन्हें साहित्यिक लेखन-पठन की प्रेरणा मिलती थी। नागरजी को हिंदी से लगाव था लेकिन वे दूसरी भाषाओं का आदर-सम्मान करते थे। शरतचंद्र को मूल में पढ़ने के लिए उन्होंने बांग्ला भाषा सीखी। शरत को उन्होंने बार-बार पढ़ा और उनसे मिलने कलकत्ता गए। वे शरत से खूब प्रभावित थे। साहित्य पढ़ना उनके लिए कभी केवल मनोरंजन का साधन नहीं रहा। यह उनके लिए अध्ययन का प्रधान विषय था। शरत ने उन्हें कहा था कि जो भी लिखो, वह अधिकतर अपने अनुभव के आधार पर लिखो। व्यर्थ की कल्पना के चक्कर में कभी न पड़ना। मैं जब उनसे मिली तो उन्होंने मुझसे भी यही कहा। मुझे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ लिखते रहने की सलाह दी।

अमृतलाल नागरजी ने सन 1988, 14 जुलाई को मुझे भी एक पत्र लिखा था। यह पोस्टकार्ड मेरे लिए किसी थाती से कम नहीं है। मैं केरल जाने से पहले उनसे मिली थी। मेरा संबंध केरल से है यह जानकर उन्हें बहुत अच्छा लगा। इस पत्र में उन्होंने लिखा है कि मैं खूब सुख भोगूँ और केरल के जगतगुरु शंकराचार्य की तरह अखंड भारत को हृदयंगम करूँ। यही उनकी हार्दिक कामना थी। मेरे अनुवाद कार्य के विषय में जानकर उन्हें बहुत संतोष हुआ था। वे स्वयं भी बहुत अच्छे अनुवादक थे। उन्होंने 'बिसाती' नाम से मोपासां की कहानियों का अनुवाद किया। 'प्रेम की प्यास' नाम से फ्लॉबियर की 'मादाम बावेरी' का अनुवाद किया। इसके साथ ही उन्होंने मराठी की कई

कृतियों का हिंदी में अनुवाद किया। उनका मराठी और गुजराती भाषा पर भी अधिकार था। यह मेरा सौभाग्य है कि उनका दिया आशीर्वाद मेरे लिए फलित हो रहा है।

हमारे देश में बड़ी समृद्ध मौखिक परंपरा है और उस पर विलुप्त होने का खतरा मंडरा रहा है। इस खतरे को नागरजी ने बहुत पहले भांपकर, 1857 की क्रांति के मौखिक इतिहास को 'गदर के फूल' नाम से संकलित किया। आजकल सैक्स वर्कर पर काफी काम हो रहा है। नागरजी ने 1960 में इस मुद्दे को उठाया। 'ये कोठेवालियां' उसी का प्रतिफल है। अपने समकालीनों पर 'जिनके साथ जीए' नाम से उन्होंने संस्मरण लिखे। 'चैतन्य महाप्रभु' नाम से उन्होंने सृजनात्मक जीवनी लिखी। 'साहित्य और संस्कृति' नाम से उनके साहित्यिक और सृजनात्मक आलेख प्रकाशित हैं। 'टुकड़े टुकड़े दास्तान' नाम से उनके आत्मकथात्मक लेखन को उनके पुत्र डॉ. शरद नागर ने संजोया है।

अमृतलाल नागर के पत्र पढ़कर पता चलता है कि वे आस्तिक थे। अपने इष्ट देवों से मित्रवत व्यवहार किया करते थे। उनसे मजाकिया लहजे में संवाद करते थे। सरल इतने थे कि बारिश होने पर उनका मन मुक्त होकर झमाझम बरस उठता था, हरहराती आनंदी नदी बनकर बहने लगता था। लेख के अंत में हिंदी के इस दीवाने को मेरी श्रद्धांजलि।



कुमार गंधर्व के बहाने

अप्रमेय मिश्र

संत कबीर ने जिस धरातल पर 'उड़ जाएगा हंस अकेला' को अनुभूत कर पदध्वनित किया उसी तर्ज पर इस भाव और पद को कंठ-कंठ तक हनुमान चालीसा की तरह अगर किसी ने इस गीत को पहुंचाया तो वह कुमार गंधर्व ही थे। कुमार ने जैसे कबीर के जितने भी पद उठाए उसे आसमान की ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया। 'निर्भय निर्गुण गुनी रे' से लेकर 'कौन ठगवा नगरिया लूटल हो' आदि अनेक निर्गुण आज गायिकी में मील के पत्थर हैं। अस्तित्व की यह अद्भुत विडंबना है कि जो वस्तु अंततः छूट ही जाती है उसी को पाने के लिए मनुष्य अत्यधिक आतुर रहता है। शास्त्रों ने इसी को मोह कहा है। दुनिया की शक्ल इस समय जो दिखाई पड़ रही है उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यक्ति अपने आस-पास पड़ी चीजों के अतिरिक्त कुटुंब, गांव, देश, संसार सब कुछ ही लेकर उड़ जाना चाहता है। कुमार गंधर्व की 108वीं पुण्यतिथि अभी हाल में ही उनके निवास स्थान देवास में मनाई गई। एक खास तरह की सधुक्कड़ी गायिकी का प्रतिमान कुमार ने जो गढ़ा था उसकी प्रेरणा उन्हें इसी भारत के ग्रामीण अंचलों से प्राप्त हुई थी। कुमार ग्रामीण लोगों से प्रायः मिला करते थे। उनके गीतों को सुनते थे और अक्सर अपने शिष्यों को राय दिया करते थे कि इन्हें सुनो-और फिर बुनो क्योंकि शास्त्रीय संगीत का जन्म ही लोक संगीत के आधार पर हुआ है।

यों तो कुमार गंधर्व के पुत्र-पुत्री, पौत्र तथा शिष्यों का एक बड़ा समूह इस गायिकी को अपने कंठ से लगाए आगे बढ़ा रहा है; पर वह जो हंस इस जीवन के तरुवर से उड़ चला उसकी भरपाई संगीत जगत कभी न कर पाया। कुमार ने अपनी गायिकी से, रागों को प्रस्तुत करने के अपने अंदाज से तथा शास्त्रों के लौकिक प्रयोग से शास्त्रीय संगीत जगत में जो वितान खड़ा किया वह गौतम बुद्ध के आप्त वचन 'अप्प दीपो भवः' के काफी नजदीक है। अभी हाल में मुझे पता चला कि 'अप्प दीपो भवः' का सामान्यतया जो अर्थ अपने को प्रकाशित करने का समझा-बूझा जाता रहा है वह पूर्णतया बुद्ध के दर्शन और उनके कहे के आशय को प्रकट नहीं करता। पालि भाषा के कुछ तिब्बती पंडितों ने अपने शोध में यह तथ्य उजागर किया है कि 'दीप' का अर्थ यहां दिया नहीं उस 'द्वीप' से लिया जाना चाहिए जो समुद्र अथवा अस्तित्व में रहते, फलते-फूलते हुए भी अलग-थलग रहता है।' कालांतर में बौद्ध स्तूपों के निर्माण भी संभवतया इसी आशय को प्रकट करने के निहितार्थ बनाए गए थे, जो आज भी एक पहली की तरह हैं। कुमार की गायिकी शास्त्रीय पंडितों के बीच एक जमाने से उसी तरह अलग-थलग रही जिस तरह बुद्ध और कबीर अपने-अपने जीवन काल में रहे। इन सबके

बावजूद पंडित जगत के खेमे से और लोक से भी उनके चाहने वालों की कभी कमी न रही। 8 अप्रैल 1924 को जन्मे कुमार किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते काफी चर्चित हो चुके थे। कुमार की पहली पत्नी (भानुमती) के निधन के बाद वसुंधरा कोमकली ने कुमार का हाथ थामा। अपने किन्हीं संस्मरण में उन्होंने कहा है कि कुमार को उन्होंने पहली बार कलकत्ते के किसी कार्यक्रम में सुना था।

21 मई 1931 को कोलकाता में जन्मी वसुंधरा जी ने संगीत की शिक्षा अपने पिता प्रो. बी. आर. देवधर से ग्रहण की पर जिस गायिकी को उन्होंने अपने गले लगाया वह कुमार का ही अंदाज था। संगीत की भाषा में अगर कहूं तो सुर लगाने की जो विशेष पद्धति वसुंधरा ने अपनाई वह देवासी अर्थात् कुमार की पद्धति थी। दशकों तक वसुंधरा ने कुमार के साथ गायन में संगत की और यह संगत इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जिस समय कुमार अपने गायिकी में प्रयोग कर रहे थे ठीक उसी समय बड़े स्तर पर शास्त्रज्ञों का एक समूह उनकी गायिकी पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा कर रहा था। ताई का साथ निभाना उनकी गायिकी का आधार बना। यह संयोग की ही बात है कि कुमार के ही काल में देश के दो और बड़े दिग्गज गायकों के पांडित्य और प्रतिभा का डंका अपने परम शिखर पर था। उम्र में तेरह-चौदह वर्ष बड़े उस्ताद अमीर खां अपनी धीर-गंभीर आवाज और आलाप से जिस गायिकी के प्रतिमान को गढ़ चुके थे उसके ठीक उल्टे कुमार अपने गायन का ताना-बाना बुन रहे थे। दोनों को ही नहीं पता था कि उनकी गायिकी आधुनिक युग में एक घराने की शकल अख्तियार कर लेगी। इसके अतिरिक्त पंडित भीमसेन जोशी (जन्म 4 फरवरी, 1922) जिस समृद्ध परंपरा की गायिकी का निर्वहन कर रहे थे वह किराना घराने की स्थापित, वजनदार तथा लोक स्वीकृत गायिकी थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वह काल संगीत जगत का स्वर्ण काल था। निखिल बनर्जी, रविशंकर जैसे करीने कलाकारों के बीच अपनी अलग पहचान बनाना कोई सामान्य बात न थी।

इसके अतिरिक्त 1944 के आस-पास विश्व के साथ-साथ भारत में भी कई तरह के फेरबदल हो रहे थे। एक संवेदनशील व्यक्ति, वह भी जो राग की संवेदना को पाने हेतु 'अपने को हर राग के प्रदर्शन के बाद मृत घोषित करता है' (कुमार का वक्तव्य) उसके सामने दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका का पूरा दारुण दृश्य था। 1931 से 1945 तक चलने वाला दूसरा विश्वयुद्ध जिसमें तकरीबन दस करोड़ सैनिकों ने हिस्सा लिया और चार से सात करोड़ लोगों की हत्या हुई; वह कितना मर्माहत होगा इसका बोध उनकी गायिकी के चरित्र को समझने में काफी महत्वपूर्ण होगा। दूसरे विश्वयुद्ध के समय में भारत में अंग्रेजों का कब्जा था। गुलाम भारत अंग्रेजी हुकूमत के अधीन था।

फलस्वरूप भारत ने भी नाजी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रिटिश राज में 20 लाख से अधिक सैनिकों को युद्ध के लिए भेजा गया। लाखों जानें गयीं 1940 से 47 अर्थात् आजादी मिलने के ठीक पहले और बाद के भारत की दशा सर्वविदित ही है जिसके पेचोखम को उकेरना यहां लाजिमी न होगा। भारत की चोटिल, घायल, मर्माहत और किंकर्तव्यविमूढ़ मनःस्थिति से उपजे तमाम विचार तथा दृष्टि उस समय मुक्त न होकर शंकाओं, वैमनस्य और चालाकियों से भरे हुए थे। हिंदू-मुस्लिम लड़-कट-मर चुके थे। अपने देश और धर्म की हिस्सेदारी पाने की कवायद ने दोनों को ही एक दूसरे का दुश्मन बना दिया था। जो-जो आदमी के हाथों से संभव हो सका उसे हिंदू-मुसलमानों ने बांट लिया। यह वह दौर था जब भाषा से संगीत तक और पशु-पक्षी से लेकर कीड़े-मकोड़े तक का बटवारा हुआ। बटवारे के बाद लोक मानस जिन चीजों को भूल चुका था उसे नए सिरे से टटोलना शुरू किया गया, परिणामस्वरूप नकारात्मक दृष्टि के प्रभाव ने बड़ी तीव्रता से

देश को जकड़ लिया। इतिहासकारों ने अमीर खुसरो से लेकर गोपाल नायक तक को आपस में लड़ाया और तथा-कथित कुछ एक प्रबुद्ध इतिहासकारों ने जिस शोध दृष्टि से भारतीय संगीत की छान-बीन की उसमें अधिसंख्य तथ्य अलगाववादी दृष्टि के अनुरूप थे। नए सिरे से खयाल गायिकी के विकास के तार ढूँढ़े जाने लगे और संतों महात्माओं की भी राय को सम्मिलित किया जाने लगा। ध्रुपद, कीर्तन संगीत को ही गा रहे गवैयों को विशुद्ध भारतीय संगीतज्ञ होने का तमगा दिया गया। यह वह दौर था जब भारत के इतिहासविदों पर कम स्वामियों में ज्यादा भरोसा दिखाया जा रहा था। कुछ तथा-कथित भारतीय संतों-मौलवियों का विदेशों में भारतीयता का परचम लहराने के फलस्वरूप उनका वक्तव्य भारत में आप्त वचन की तरह लिया गया, और तमाम विषयों के हस्तक्षेप की तरह संगीत विषय पर भी उन-सभी ने बिना शोध किए काफी कुछ कहा-सुना जिसे एक खास वर्ग ने बड़े उत्साह के साथ इन वचनों को अपनी असल धाती स्वीकार कर लिया। ज्यादातर वक्तव्यों में कहा गया कि 'हमारा संगीत केवल कीर्तन और ध्रुपद में ही शुद्ध रूप से जीवित है शेष सब इस्लामी संगीत के अनुकरण से दूषित हो गया है। क्या आप सोचते हैं कि टप्पा को नाक में गाते हुए, बिजली के सामान एक सुर से दूसरे सुर पर दौड़ना कोई उत्कृष्ट संगीत है? नहीं। जब तक प्रत्येक सुर हर एक स्तर पर पूरा गाया नहीं जाता उत्कृष्ट संगीत की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' जगह-जगह यह बात दुहराई जाने लगी कि- 'भारत में आकर मुसलामानों ने यहां की राग-रागिनियों को अपनाया अवश्य पर टप्पा-गीतों पर उन्होंने इतनी गहरी छाप मारी कि यहां का संगीत ही नष्ट हो गया।'

यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस समय की प्रचलित खयाल गायन शैली तथा ध्रुपद गान शैली का जो रूप प्रचलित है वह काल के विकास का एक प्रतिफल है। पंडितों में यह आज भी लगातार विमर्श का विषय बना हुआ है कि खयाल गान शैली के विकास का 'हेतु' कहां से ढूँढ़ा जाए? उनके तर्क इस पक्ष में है कि 'जाति गान', प्रबंध और उसके पश्चात ध्रुपद के साथ कदम से कदम मिलाते हुए खयाल गान का क्रमशः विकास हुआ। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारी परंपरा ने सदैव अभिनव-प्रयोग के आधार पर ही नए कीर्तिमानों को कला में स्थापित किया है। आचार्य भरत ने जिन अष्टारह 'जातियों' की चर्चा अपने नाट्यशास्त्र में की है वह कुछ और नहीं परंपरा से चली आ रही विशिष्ट 'स्वर-सन्निवेशों' के आधार पर वर्गीकृत किए हुए 'जाति' गायन के वह प्रकार हैं जिनमें प्रयोग की गुंजाइश सदा से बनी रही। इस वर्गीकरण में सात शुद्ध जातियां- 'षाडजी, आर्षभी, धैवती, नैषादी' ये चार 'षड्ज ग्राम' की तथा 'गांधारी, मध्यमा तथा पंचमी' ये 'मध्यम ग्राम' की कुल सात शुद्ध जातियां हैं। इसके अतिरिक्त इन्हीं सात जातियों के शास्त्रीय नियमों में परिवर्तन करके उस समय ग्यारह और जातियों का विकास हुआ जिनका जिक्र स्वयं भरत ने किया है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जातियों के ही शैली परिवर्तन से 'प्रबंधों' तत्पश्चात 'ध्रुपद' और उसके साथ ही साथ 'खयाल' गायन शैली का विकास हुआ। अगर हम ध्रुपद संगीत को ही अपना आधार संगीत मानते हैं तो हमें जाति गायन के विषय में यह निर्णय ले लेना चाहिए कि उसका कोई अर्थ प्रचलित संगीत से वास्ता नहीं रखता और अगर हम जाति-गान को स्वीकार करते हैं तो उसके बरक्स ध्रुपद गान अथवा खयाल-गान को या तो हमें विकृत मानना पड़ेगा अथवा मुस्लिम प्रभाव के अधीन कहना पड़ेगा। इन सब तर्कों के इतर सभी संगीताचार्य और शास्त्रज्ञ इस बात को एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि भारतीय गान के विविध तत्त्व प्राचीनकाल से ही ऐसे घुले-मिले हैं कि उनको किसी खास प्रयोजन से इंगित कर पाना कठिन है। विलंबित स्वर प्रयोग को ही केवल

भारतीयता के गान-विधा का आधार मानना सर्वथा अनुचित होगा क्योंकि भरत, शारंगदेव, दुर्गावत, याष्टिक, मतंग, शार्दूल ने जिन गीतियों की चर्चा अपने-अपने ग्रंथ में की है वे सभी अपने विलंबित एवं द्रुत प्रयोग के आधार पर विशिष्ट थीं। पंद्रहवीं शताब्दी में लिखा गया शारंगदेव कृत ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में जिन गीतियों की चर्चा की है उनमें संख्या भेद के आधार के साथ अंतर है तथा थोड़ा बहुत रूप के आधार पर भी। शारंगदेव ने ग्राम रागों के अंतर्गत स्वराश्रिता गीतियों पर आधारित पांच ग्राम रागों की चर्चा की है। प्राचीन ग्रंथकारों ने ग्राम रागों की प्रकृति-चलन के अनुसार पांच प्रकार की गायन शैली मानकर इन शैलियों को गीति की संज्ञा दी है। यहां यह विशेष उल्लेखनीय है कि स्वराश्रिता गीतियों का संबंध रागों की स्वर संरचना तथा राग के चलन से रहता है। पांच गीतियों-शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा और साधारणी चलन और रूप के संबंध में इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं कि विशेष रागों के रूप के बदलने का आधार केवल विशेष स्वर-सन्निवेश के प्रयोग की विविधता से ही नहीं है बल्कि उन्हें स्वरों के लयात्मक (विलंबित, मध्य एवं द्रुत) परिवर्तन के आधार पर भी बदला जाता है। यह शोध का विषय है कि अति कोमल स्वर अथवा किसी तीव्र स्वर का प्रयोग केवल श्रुतियों के ठीक-ठीक लगा देने भर से प्राप्त होगा? ठीक-ठीक लगाना का तात्पर्य बहुत गहरे में 'लय-प्रयोग' के आधार पर भी टिका हुआ है जिस पर हमारे वर्तमान शास्त्रकारों ने कम ही ध्यान दिया है। यहां हमें यह समझना होगा कि मात्र यह कह देने से अब काम नहीं चलेगा की नाक में गाने अथवा द्रुत रूप से गायन की प्रवृत्ति भारतीय नहीं है। शायद इसी प्रवृत्ति ने ही कुमार गंधर्व जैसे उच्च कोटि के गायक को भी एक समय तक शास्त्रीय संगीतज्ञ के कोटि में नहीं रखना चाहती थी। उनकी गायिकी का आधार ही अभिनव लय-प्रयोग था जहां राग की गंभीरता इस तथ्य पर नहीं टिकी हुई थी कि अति-विलंबित लय ही राग के गंभीरता का द्योतक है। राग की गंभीरता अथवा उसके सौंदर्य की खोज के विभिन्न आयाम हो सकते हैं जिसका एक पक्ष कुमार की गायिकी का अति मध्य लय में रागों के विस्तार-प्रयोग से है।

ऐतिहासिकता को समझने-बूझने की सबसे बड़ी तकलीफ उसका छिद्रान्वेषी होना है। तथाकथित विज्ञान बिना तोड़े चीजों को देख नहीं सकता, समझ नहीं सकता। यही उसकी शक्ति भी है और सीमा भी, पर जगत खंडों में तोड़कर देखा ही नहीं जा सकता, कोई उपाय भी नहीं है। आचार्य बृहस्पति से लेकर ठाकुर जयदेव सिंह तक जिस इतिहास को पुनः लिखने-समझने के प्रयास में लगे थे उससे निश्चित ही संगीत जगत को अपार सफलता प्राप्त हुई, पर कहीं कोई चूक रह गई। भारतीय संगीत की ऊंचाइयों की जिन संभावनाओं की चर्चा से हमारा इतिहास भरा पड़ा है उसी को पाने की ललक आज भी उसी तरह जस की तस पड़ी हुई है। बहुत सी विशेषताओं के बीच घराने की जिस विशेषता को लेकर हमारा संगीत आगे बढ़ा था कालांतर में धीरे-धीरे उसे हिंदू-मुस्लिम की आंच ने कुछ ज्यादा ही गरमा दिया। ध्रुपद जिस गति से आगे बढ़ा मध्यकाल तक आते-आते उसके गति धीमी पड़ गई और खयाल गायिकी जिसमें विस्तार की असीम संभावनाएं मौजूद हैं वह आज भी अपनी विशेष शैली को बचाए रख पाने की जद्दोजहद में किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था में व्याकुल है। खैर इन सब के बावजूद और बीच 'ईश्वर-अल्ला तेरो नाम' के पुजारी 'गांधीजी' को कुमार गंधर्व ने जिस लोक संगीत से रस प्राप्त करके राग 'गांधी मल्हार' निर्मित कर उसके प्रयोग को गांधीजी के नाम समर्पित करते हुए श्रद्धांजलि दी उससे उनके औघड़ गायिकी के साथ-साथ हिंदू-मुस्लिम मानसिकता को समझा भी जा सकता है तथा भारतीय इतिहास को गौरवान्वित भी किया जा सकता है। ●

अनुवाद

जेंडर, अनुवाद और निष्ठा (फिडिलिटी) पर पुनः विचार

ज्योति चावला

अनुवाद को यदि वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान समय में ज्ञान के विभिन्न स्रोतों के मूल में अनुवाद ही है। अनुवाद कर्म वर्षों से चला आ रहा है। अनुवाद ने हमारे ज्ञान को समृद्ध करने में एक महती भूमिका निभाई है।

भारतीय संदर्भ में कहें तो हमारे यहां अनुवाद की एक लंबी परंपरा है। मध्यकालीन मुख्यतः भक्तिसाहित्य अपने खास अर्थों में अनुवाद का ही साहित्य है। विभिन्न भाषाओं और लोक संस्कृतियों में मिलने वाली रामकथा की परंपरा मूलतः वाल्मीकि रामायण से ही प्रारंभ होती है किंतु आज अनुवाद को अलग दृष्टि से देखा जाने लगा है।

जहां तक वर्तमान युग में अनुवाद एवं अनुवाद अध्ययन का प्रश्न है तो यह मूलतः पश्चिम की देन है। इसलिए हम यहां पश्चिम में चली आ रही अनुवाद परंपरा के क्रम में ही बात करेंगे। पश्चिम में अनुवाद परंपरा के मूल में बाइबिल के विभिन्न अनुवाद हैं। बाइबिल के अनुवाद को लेकर दो धारणाएं केंद्र में थीं। एक मत के अनुसार बाइबिल चूंकि एक धर्मग्रंथ है इसलिए इसके किसी शब्द से छेड़छाड़ नहीं हो सकती इसलिए उसका शब्दानुवाद या कि शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद ही किया जाना चाहिए। जबकि दूसरा मत भावानुवाद के पक्ष में था जिसका मानना था कि बाइबिल की शिक्षा का प्रसार तभी हो सकता है जब उसका भावानुवाद हो। सेंट जेरोम बाइबिल के भावानुवाद के ही पक्षधर थे।

उसके बाद मार्टिन लूथर, एतीन दोले, टिटलर, मैथ्यू आर्नल्ड आदि के अनुवाद संबंधी चिंतन से हम सभी परिचित हैं। इसलिए उन पर यहां विचार करना अनावश्यक होगा। कुल मिलाकर तथ्य यह कि पश्चिम में अनुवाद को लेकर पूरी बहस भाषा-केंद्रित थीं। आधुनिक पाश्चात्य अनुवाद चिंतक भी अनुवाद को एक भाषिक प्रक्रिया तक ही मानते थे जिसके लिए दो भाषाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है। रोमन याकब्सन ने भाषिक पाठ के आधार पर अनुवाद को तीन प्रकारों में विभाजित किया- अंतःभाषिक अनुवाद, अंतर्भाषिक अनुवाद एवं अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद। कैटफर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *A Linguistic Theory of Translation* में लिखा कि *Translation is the replacement of textual material in one language by equivalent textual material in another language* अर्थात् अनुवाद स्रोत भाषा की पाठ्य सामग्री का लक्ष्य भाषा की समतुल्य पाठ्य सामग्री द्वारा प्रतिस्थापन है।¹¹

नायडा ने अपनी स्थापना में इसी समतुल्य को और व्याख्यायित किया Translation consists in producing in the receptor language the closest natural equivalent to the message of the source language first in meaning and second in style. अर्थात् स्रोत भाषा में अभिव्यक्त विचारों को लक्ष्य भाषा में अर्थ और शैली के स्तर पर निकटतम समतुल्य द्वारा स्थानांतरित करना ही अनुवाद है।² इसी परंपरा में न्यूमार्क और पीयर्स आदि भी अनुवाद को एक भाषिक क्रिया मानते हैं जिसके तहत एक भाषा के प्रतीकों का दूसरी भाषा के प्रतीकों में अंतरण किया जाता है।

न्यूमार्क के अनुसार, Often, though not by any means always, it is rendering the meaning of a text into another language in the way that the author intended the text.³

इस क्षेत्र में सांस्कृतिक मोड़ के प्रवर्तक के रूप में सूसन बेसनेट और आंद्रे लेफेवेयर को माना जाता है जिन्होंने अपनी पुस्तक *Constructing Cultures* में यह स्पष्ट किया है कि अनुवाद वस्तुतः एक सांस्कृतिक क्रिया है। उन्होंने अनुवाद प्रक्रिया में संस्कृतियों एवं परंपराओं को महत्व दिया। उनका यह अध्ययन चीनी एवं पाश्चात्य साहित्य के अनुवाद के परिप्रेक्ष्य में था। उनकी यह किताब पिछले दशक में अनुवाद में देखे जा रहे सांस्कृतिक मोड़ को पूरी तरह से स्थापित करने का काम करती है।

प्रस्तुत लेख में हम पिछले कुछ समय में अनुवाद चिंतन को लेकर आए बदलाव के संदर्भ में बात करते हुए अनुवाद में जेंडर की भूमिका पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

पिछले कुछ दशकों में सांस्कृतिक अध्ययनों की ओर बढ़ते रुझान से तो हम परिचित हैं। इन दशकों में जहां सांस्कृतिक अध्ययन की ओर रुझान बढ़ा है वहीं अनुवाद अध्ययन में भी एक सांस्कृतिक मोड़ आया है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। सांस्कृतिक मोड़ अर्थात् अनुवाद प्रक्रिया में 'अनुवाद कैसे' के स्थान पर 'अनुवाद क्यों' की ओर चिंतकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अब चिंतकों के चिंतन की सुई अनुवाद करने की प्रक्रिया से आगे बढ़कर अनुवाद आखिर क्यों किया जाता है, पर खिसक गई है। और ज्यों ही हम इस 'क्यों' पर विचार करते हैं तो एक साथ जैसे कई पर्दे आंखों के आगे से हटने लगते हैं और अनुवाद के लिए पाठ का चयन करने के पीछे अनुवादक या अनुवाद एजेंसी अथवा अनुवाद करवाने वाली संस्था की नीयत की ओर ध्यान जाता है वहीं से हम 'अनुवाद की राजनीति' को समझ पाते हैं। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि भाषिक मोड़ (Linguistic turn) के बाद आए इस सांस्कृतिक मोड़ (Cultural Turn) ने एक साथ अनुवाद के कई नए आयामों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिसमें 'जेंडर एवं अनुवाद' भी एक महत्वपूर्ण बिंदु है। आइए, इसी विषय पर आगे विस्तार से बात करते हैं।

अनुवाद अध्ययन में आए इस सांस्कृतिक मोड़ (जिसे अंग्रेजी में कल्चरल टर्न कहा जाता है), ने अनुवाद की नई सैद्धांतिकी को जन्म दिया जब कहा गया कि अनुवाद केवल भाषिक प्रक्रिया नहीं है। अनुवाद की प्रक्रिया में केवल भाषा या प्रतीकों का अनुवाद नहीं होता अपितु संस्कृतियों का भी अनुवाद होता है। सूजन बेसनेट और आंद्रे लेफेवेयर ने अपनी संपादित पुस्तक *ट्रांसलेशन, हिस्ट्री एंड कल्चर* से इस सांस्कृतिक मोड़ की ओर संकेत किया जहां उन्होंने स्पष्ट किया कि अनुवाद केवल

भाषिक व्यापार तथा मूल पाठ तथा अनुदित पाठ के बीच समतुल्यों की तलाश से कहीं आगे दो संस्कृतियों के बीच संवाद का माध्यम है। अपने इसी विचार को उन्होंने अपनी पुस्तक कन्स्ट्रक्टिंग कल्चर में भी आगे बढ़ाया। लेफेवेयर ने इसी क्रम में आगे विचार करते हुए अनुवाद को पुनःसृजन (Translation as Rewriting) भी कहा और उसके चारों ओर फैले वैचारिक तनाव की बात की। आंद्रे लेफेवेयर अपनी पुस्तक Translation, Rewriting and the manipulation of literary fame में Translation is of course, a rewriting of an original text.⁴ लिखकर अनुवाद को केवल भाषायी व्यापार के दायरे से बाहर निकालकर एक स्वतंत्र इकाई के रूप में स्थापित करते हैं। वहीं सूसन बेसनेट The Translation Turn in Cultural Studies में पाठ का संबंध सत्ता से जोड़कर उसके दायरे को और विकसित कर देती हैं Translation, of course, is a primary method of imposing meaning while concealing the power relations that lie behind the production of the meaning.⁵

और इस प्रकार अनुवाद को केवल भाषिक व्यापार से निकालकर उसके दायरे का विकास किया। इसी क्रम में अनुवाद में अस्मिता और जेंडर आदि मुद्दों पर बात होने लगी। जेंडर एवं अनुवाद विषय पर सबसे अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण काम शेरी साइमन का है। शेरी साइमन की पुस्तक जेंडर इन ट्रांसलेशन : कल्चरल आइडेंटिटी एंड द पॉलिटिक्स ऑफ ट्रांसमिशन इस दिशा में एक सार्थक योगदान है।

1970-80 का दशक सांस्कृतिक अध्ययन के साथ, जेंडर अध्ययन एवं अनुवाद अध्ययन के विकसन का साक्षी बना। इसे यूं भी देखा जा सकता है कि सांस्कृतिक अध्ययन की शुरुआत ने चिंतकों को देखने के नजरिये को बदलकर रख दिया। परिणामस्वरूप भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया। इसी परिवर्तन के अंतर्गत भाषा में जेंडर के मुद्दे पर दृष्टि गई। केवल अनुवाद ही नहीं अपितु लगभग सभी विषयों में भाषा और उसमें भी जेंडर पर बात होने लगी।

दरअसल 19वीं शताब्दी में शुरू हुआ फेमिनिज्म यानी 'स्त्रीवाद' 21वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते 'जेंडरवाद' में विस्तार पाता है। स्पष्ट है कि 19वीं सदी में जिस हाशिए की समस्याओं को लेकर स्त्रीवाद की शुरुआत हुई वही इस उत्तर आधुनिक समय में जेंडर से जुड़ी समस्याओं की वकालत करने लगता है। यानी समय के विकास के साथ चिंतन की सुई घूमकर स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी जेंडर यानी लिंगों की बात करती है जो तथाकथित अल्पसंख्यक हैं और जिनकी चिंता इस विकासगामी समाज में की जानी चाहिए।

शेरी साइमन अपनी पुस्तक में इस ओर संकेत करती हैं कि अनुवाद में जेंडर की समस्या की ओर उनका ध्यान तब गया जब उन्होंने 1986 में 'फेमिनिस्ट पोयटिक्स' पर एक गोष्ठी का आयोजन किया और उसमें चर्चा के लिए क्यूबेक (कनाडा) की तीन बेहद चर्चित स्त्रीवादी लेखिकाओं को आमंत्रित किया। ये रचनाकार थीं - सुसान द लातबिनियरे-हार्वुड, बारबरा गोदार्ड और केथी मेजेई। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्यूबेकियन के ये तीनों बेहद चर्चित नाम थे जिन्होंने अनुवाद को एक स्त्रीवादी कार्य कहा। 1970 और 1980 के दशक में क्यूबेक में जिस फ्रांसीसी भाषी स्त्रीवादी प्रयोगात्मक लेखन की शुरुआत हुई उसने एक साथ कई नए मुद्दों को जन्म दिया। इसमें यह देखा गया कि स्त्री लेखन किस प्रकार एक साहित्यिक मध्यस्थता करता है। इस पूरे प्रयोग ने साहित्यिक

एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में स्त्रीवादी अनुवादकों का ध्यान आकर्षित किया।

अनुवाद अध्ययन जो एक लम्बे समय तक इस बिन्दु पर केंद्रित रहा कि अनुवाद किस प्रकार किया जाए तथा सही अनुवाद क्या है से आगे बढ़कर 1970-80 में इस बिंदु तक पहुंचा कि अनुवाद की पूरी प्रक्रिया में उसकी यानी अनुवाद की क्या भूमिका है और अनूदित रचना मूल भाषा के समाज पर क्या असर डालती है। अनुवाद में मूल के प्रति निष्ठा तथा अनुवाद कर्म में अनुवादक की अदृश्यता (द ट्रांसलेटर्स इनविजिबिलिटी) का विरोध उत्तरआधुनिक चिंतकों ने किया जिनमें लेफेवेयर, सूसन बेसनेट, लॉरेंस वेनुटी, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक आदि प्रमुख हैं।

द ट्रांसलेटर्स इनविजिबिलिटी

इस लेख में जेंडर और अनुवाद पर बात करने के क्रम में लॉरेंस वेनुटी और अनुवाद को लेकर उनके विचारों पर बात किया जाना प्रासंगिक होगा। लॉरेंस वेनुटी अपनी पुस्तक द ट्रांसलेटर्स इनविजिबिलिटी में अनुवादक की दृश्यता की वकालत करते हैं और मानते हैं कि अनुवाद इतना अधिक मूलनिष्ठ न हो कि उसे पढ़ते समय अनूदित संस्कृति का स्मरण भी न हो। वेनुटी अनूदित पाठ में अनुवादक के अदृश्य होने का घोर विरोध करते हैं तथा मानते हैं कि अनुवादक का महत्व मूल रचनाकार से कम नहीं है क्योंकि वे एक भाषा के पाठ को अन्य भाषाओं तथा संस्कृतियों तक पहुंचाने का कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में वे मूल भाषा की संस्कृति और भाषा के विशिष्ट प्रयोगों को सुरक्षित रखने की बात करते हैं। यहां लॉरेंस वेनुटी के अनुवाद चिंतन का जिक्र करना इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि अनुवाद की आधुनिक युगीन सैद्धांतिकी के अनुसार अनुवाद ऐसा होना चाहिए कि उसे पढ़ते हुए मूल का सा आस्वाद हो। और मूलनिष्ठता की इसी राजनीति में अनुवादक कहीं लुप्त होकर रह जाते हैं। ऊपर जिन तीन क्यूबेकियन रचनाकारों की चर्चा की गई है, उनके द्वारा अनुवाद को 'स्त्रीवादी कर्म' (फेमिनिस्ट प्रैक्टिस) कहने के पीछे अनुवाद को दायम दर्जे का काम मानना ही है। सीमोन द बुआ की पुस्तक द सेकेंड सेक्स में सीमोन जिस प्रकार समाज में स्त्री की नागरिकता दायम दर्जे की होने की ओर संकेत करती है उसी तरह साहित्य में अनुवाद और अनुवादकों को मूल रचना और मूल रचनाकार के समक्ष दायम श्रेणी का ही माना जाता रहा है। शेरी साइमन अपनी पुस्तक में विभिन्न स्त्री चिंतकों द्वारा इस संदर्भ में कहे गए कथनों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि समाज में जिस प्रकार स्त्री का स्थान दायम दर्जे का है उसी प्रकार साहित्य में अनुवाद का भी वही स्थान है।⁶

अनुवाद कर्म और उसमें निष्ठा का प्रश्न

लेख के प्रारंभ में अनुवाद की पाश्चात्य परंपरा और उसमें विभिन्न चिंतकों के योगदान की संक्षेप में चर्चा की गई है। जैसा कि वहां उल्लेख किया गया है कि पश्चिम में अनुवाद को लेकर दो तरह की बातें की जाती रही हैं - शब्दानुवाद (mataphrase) और भावानुवाद (Paraphrase)। अनुवाद किस प्रकार हो इस पर चिंतन की पूरी एक लंबी परंपरा है जिसके केंद्र में मूल भाषा का साहित्य एवं उसकी शुद्धता का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है। लगभग सभी अनुवादकों एवं चिंतकों ने मूल के प्रति विशेष निष्ठा दिखाई है जिसमें माना गया है कि अनुवाद करते समय अनुवादक मूल पाठ के प्रति पूर्ण न्याय करे ताकि पाठक को मूल का पूरा आस्वाद मिल सके। मूल यानी स्रोत भाषा के साथ अधिक छेड़छाड़ को अच्छे अनुवाद की श्रेणी में नहीं रखा गया है। इस परंपरा में लगभग सभी बड़े

चिंतक - संत जेरोम, मार्टिन लूथर, एलेक्जेंडर पोप से लेकर आधुनिक काल में रोमन याकब्सन, नायडा, कैटफोर्ड, पीयर्स, नाबोकोव, जॉर्ज स्टेनर तक आ जाते हैं। किंतु उत्तर आधुनिक काल में निष्ठा (फडिलिटी) का केंद्र बदल जाता है।

दरअसल अनुवाद को लेकर आधुनिक काल तक जितना भी चिंतन हुआ उसमें अनुवाद को एक दायम दर्जे का काम माना जाता रहा। स्रोत पाठ को मूल तथा अनुवाद को उसकी नकल की तरह देखा गया जहां अनुवाद सक्रिय भूमिका में न होकर मूल पर पूरी तरह आश्रित होता है। स्त्री अनुवादकों तथा चिंतकों ने अनुवाद को अपने समतुल्य रख कर देखा और माना कि जिस तरह स्त्री-पुरुष के बीच स्थापित होने वाले शारीरिक संबंधों में स्त्री को निष्क्रिय तथा वस्तु मात्र माना जाता रहा है उसी तरह साहित्य जगत में अनुवाद की भूमिका भी निष्क्रिय है और वह पूरी तरह मूल पर आश्रित है। अपनी अस्मिता को स्थापित करने के क्रम में उन्होंने अनुवाद को प्रथम पंक्ति में लाकर खड़ा करने की वकालत की और उसे ज्ञान के क्षेत्र में बराबर का स्थान देने की बात की। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि अनुवाद को मूल की छाया से बाहर निकालकर स्वतंत्र सत्ता प्रदान की जाए जिसके लिए अनुवाद की तय सैद्धांतिकी को तोड़े जाने की आवश्यकता है। मूल के लिए प्रयोग किए जाने वाले रूपकों - प्रॉपर्टी, प्राइमरी, पैटर्नल, ओरिजनल के समक्ष अनुवाद के लिए प्रयोग किए जाने वाले रूपकों अर्थात् मैटाफर - टैनेंट, सेकेंडरी, मैटर्नल, इमिटेशन आदि का विरोध किया।⁷

"Les belles infideles" अर्थात् women may be either beautiful or faithful इस प्रयोग से हम सभी परिचित हैं जो 18वीं सदी के एक फ्रांसीसी साहित्यकार द्वारा कहा गया। यह कथन अथवा प्रयोग उस समय की स्त्री संबंधी मानसिकता को साफ दर्शाती है जहां माना जाता रहा है कि स्त्री सुंदर होगी तो वफादार नहीं होगी और वफादार होगी तो सुंदर नहीं। ऐसे अतिवादी प्रयोग करते समय प्रयोगकर्ता यह भूल जाते हैं कि दुनिया के लगभग सभी समाजों में चल रही विवाह संस्था कब की असफल हो चुकी होती यदि इसमें रती भर भी सच होता। लोरी चैंबरलेन अपनी पुस्तक Gender and the metaphors of translation में स्त्रियों के प्रति प्रयोग किए गए और किए जा रहे ऐसे रूपकों का सख्त विरोध करते हुए मूल पाठ और अनूदित पाठ के बीच के अंतर को मिटाने की बात करती हैं और इस अंतर को मिटाने के लिए उत्तर संरचनावादी सिद्धांत का सहारा लेती हैं जो मूल और अनुवाद के बीच की सीमाओं को लगभग अस्वीकार कर उनके बीच के संबंधों के भेद पर ही अंकुश लगा देते हैं। चैंबरलेन शब्दों के निर्माण में चल रहे सत्ता विमर्श की ओर भी संकेत करती हैं और बताती हैं कि किस प्रकार भाषा पर पितृसत्ता हावी रहती आई है जिसके चलते उत्पादन और पुनरुत्पादन में भेद किया जाता रहा है। अनुवाद के प्रति यह दोहरा व्यवहार या अतिसंवेदनशीलता सत्ता के केंद्रीकरण को लेकर है।

मूल के प्रति इसी निष्ठा के संदर्भ में यह भी सवाल उठता रहा है कि अनुवाद मूल के प्रति ईमानदार हो, शुद्ध हो या फिर लक्ष्य भाषा और संस्कृति के प्रति। यहां फिर सवाल विचारधारा का आता है। यदि स्त्रीवादी दृष्टि से कहा जाए तो अनुवाद न तो मूल के प्रति ईमानदार होना चाहिए और न ही लक्ष्य के प्रति अपितु उसकी ईमानदारी पाठ के प्रति होनी चाहिए। साइमन लिखती हैं कि स्त्रीवादी अनुवादकों के लिए आवश्यक है कि वे लेखक अथवा पाठक के प्रति ईमानदार न होकर पाठ के प्रति ईमानदार हों क्योंकि उस पाठ में लेखक और अनुवादक- दोनों की भूमिका बराबर है।⁸

साइमन के इसी चिंतन को व्यापक रूप में सभी जेंडरों के संदर्भ में रखकर देखा जा सकता है। अपने इसी कथन की पुष्टि करते हुए वे आगे लिखती हैं कि अनुवादक किसके प्रति ईमानदार हों, से पहले यह जानना आवश्यक है कि अनुवाद कौन करते हैं। इसलिए विषय की परिभाषा तय किया जाना आवश्यक है। वे मानती हैं कि अनुवाद की प्रक्रिया में पाठ लेखक की अपनी थाती न होकर अनुवादक के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण हो जाता है। वे देरिदा के विचार को ही आगे बढ़ाते हुए पाठ (टेक्स्ट) की मुक्ति की बात करती हैं। ऐसा होते ही पाठ लेखक के सीमित दायरे से बाहर आकर विशाल पाठक वर्ग का हो जाता है। अनुवाद के संदर्भ में कहें तो अनुवादक यहां एक भाषा से दूसरी भाषा में कथ्य को ले जाने के केवल यंत्रचालित से काम करने वाले न होकर स्वतंत्र अस्मिता रखने लगते हैं। ऐसे में निष्ठा किसके प्रति हो, इस पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता दिखाई देने लगती है। ऐसी स्थिति में अनुवादक लेखक या पाठक के प्रति जवाबदेह न होकर पाठ के प्रति जवाबदेह हो जाते हैं क्योंकि इस पाठ में अनुवादक की भूमिका लेखक के समतुल्य हो जाती है। यहां लोरी चैम्बरलेन का कथन उद्धृत करना प्रासंगिक होगा, ... I would argue that the reason translation is so overcoded, so overregulated is that it threatens to erase the difference between production and reproduction which is essential to the establishment of power.⁹

साइमन अपनी पुस्तक में आगे लिखती हैं कि अभिव्यक्ति की अन्य विधाओं की तरह भाषा भी केवल सत्य का दर्पण भर नहीं है बल्कि इससे आगे बढ़कर वह सत्य के निर्माण में भी भूमिका निभाती है। (Like other forms of representation, language does not simply 'mirror' reality; it contributes to it.) इसी निर्माण की प्रक्रिया में वे आगे लिखती हैं कि चूंकि अनुवाद दूसरी भाषा के पाठकों को एक भाषा विशेष का पाठ पहुंचाने का माध्यम है इसलिए अनुवादक इस प्रक्रिया में भाषा विशेष के प्रभुत्व और उसकी पितृसत्तात्मक भाषा को पाठ की जरूरत के अनुसार काट या प्रतिस्थापित कर सकते हैं। दरअसल अनुवाद के अधिकांश उत्तरआधुनिक चिंतकों ने निष्ठा (फिडिलिटी) पर प्रश्न खड़े किए हैं और अनुवाद व अनुवादक को महत्व देने के क्रम में निष्ठा को गैर जरूरी बताया है जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। यहां पाठ को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में देखा गया है जहां वह एक बार लिखे जाने के बाद लेखक के अधिकार क्षेत्र से मुक्त हो जाता है और स्पष्ट रूप से कहा जाए तो स्त्रीवादी अनुवाद चिंतकों ने निष्ठा की परिभाषा और दायरे को बड़ा करके देखने की वकालत की है। यह तभी होता है या हो सकता है जब अनुवाद तथा अनुवादक अपने पुरातन आशय से बाहर आते हैं। यानी कि जब हम यह मान लेते हैं कि अनुवाद एक दोगम दर्जे का कार्य नहीं है अपितु वह पाठ के विस्तार में लेखक के समान भूमिका निभाता है। ऐसी स्थिति में पाठ का महत्व दोनों के लिए समान हो जाता है। अनुवादक की इस दोहरी भूमिका में उसकी भी जवाबदेही होती है कि इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान में वह एक आउटसाइडर न रहकर एक निर्णायक भूमिका निभाए। हार्वुड, बार्बरा गोदार्ड आदि यहां अनुवादक के पाठ के प्रति ईमानदार होने की पक्षधर हैं। तय है कि फिडिलिटी अर्थात् निष्ठा का दायरा बढ़ाकर उसके मूल तथा लक्ष्य संस्कृति के साथ ही पाठ को भी सम्मिलित कर लिया गया है। ज्यों ही अनुवादक को यह छूट मिलती है, अनुवादक की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है और अन्य संस्कृतियों तथा भाषाओं में पाठ किस तरह

जाएँ यह जिम्मेदारी अनुवादक के कंधों पर आ जाती है। अनुवाद के इस उत्तरआधुनिक विमर्श ने अनुवादक को निचले पायदान से उठाकर मूल रचनाकार के बराबर बैठाने की पहल की है।

इसी क्रम में 1970-80 के दशक के क्यूबेकियन अंवागार्द की शुरुआत के परिणामस्वरूप इस स्त्रीवादी भाषा की नींव रखी गई जहां हार्वर्ड, बारबरा गोदार्ड आदि ने न केवल स्त्रीवादी रचनाओं का अनुवाद किया अपितु पितृसत्तात्मक भाषा के समक्ष स्त्रीवादी नए शब्द तथा संबोधन गढ़े। अनुवाद में जेंडर के सैद्धांतीकरण का यही प्रस्थान बिंदु माना जाता है। ब्रोसार्ड ने अपने लेखन में परंपरागत पितृसत्तात्मक भाषा प्रयोगों के स्थान पर नए शब्द गढ़े जिसने विश्व भर में विभिन्न अनुवादकों को आकर्षित किया। तथा कई भाषाओं में इनके अनुवाद हुए और इस प्रक्रिया में अनुवादकों को अपनी भाषा में नए स्त्री केन्द्रित शब्द गढ़ने के लिए प्रेरित किया।¹⁰ भाषा में इस तरह के मातृसत्तात्मक अथवा कहें कि स्त्रीवादी प्रयोग अभी साहित्य के लिए नए प्रयोग हैं जो लंबे समय से चले आ रही भाषा के मुहावरे के समक्ष कमजोर दिखते हैं तथा जहां इस स्त्रीवादी भाषा को खास राजनीति से प्रेरित अनुवादकों द्वारा या शुद्धीकरण के पैरोकारों द्वारा सुधारने का प्रयास किया जाता है। किंतु इस तरह के प्रयासों से चिंतित हुए बिना इस दिशा में अभी और काम किए जाने की आवश्यकता है। भारतीय भाषाओं में इस तरह के प्रयोग इक्का-दुक्का ही नजर आते हैं।

संदर्भ

1. Catford, J.C (1965): A Linguistic Theory of Translation, London, Oxford University Press, pg 20
2. Nida, Eugene & Taber, C.R (1969): The Theory and Practice of Translation, Brill, Leiden, Pg 12
3. Newmark, Peter (1988, 2001): A Textbook of Translation, Shanghai, Shanghai, Foreign Language Education Press, Pg 5
4. Lefevere, Andre (1992, 2004): Translation, Rewriting and the Manipulation of Literary Fame, Shanghai, Shanghai, Foreign Language Education Press, Pg XII- Preface
5. Bassnett, Susan & Lefevere, Andre (1998): Constructing Cultures, The Translation Turn in Cultural Studies, Multilingual Matters, Pg 136
6. Simon, Sherry: (1996) Gender in Translation: Cultural Identity and the Politics of Translation, Routledge, London and New York, Pg 1
7. Simon, Sherry: (1996) Gender in Translation: Cultural Identity and the Politics of Translation, Routledge, London and New York, Pg 9
8. Simon, Sherry: (1996) Gender in Translation: Cultural Identity and the Politics of Translation, Routledge, London and New York, Pg 2
9. Chamberlain, Lori: (1992) Gender and the metaphors of Translation, Pg 66
10. Baker, Mona & Saldanha, Gabriela (Ed.) (1998): Routledge Encyclopedia of Translation Studies, London and New York, Routledge, Pg 124-125

अन्य सहायक ग्रंथ

- Lefevere (Ed.): Translation/History/Culture, Routledge, London and New York
- Venuti, Lawrence: The Translator's Invisibility
- Beauvoir, Simone de (1989) [1952]. The Second Sex. Trans. H. M. Parshley. Vintage Books (Random House).
- Nida, Eugene & Taber, C.R (1969): The Theory and Practice of Translation, Brill, Leiden
- Nida, Eugene: (1964) Toward a Science of Translating, Brill, Leiden



गुरुमुखी लिपि में रचित राम काव्य की प्रामाणिकता

हरदीप सिंह

प्रस्तुत लेख में सूर और तुलसी जैसी भक्ति और काव्य प्रतिभा से संपन्न पंजाब के महाकवि रत्नहरि द्वारा विरचित गुरुमुखी लिपि में रचित राम काव्य की प्रामाणिकता की स्थापना करता है। रत्नहरि द्वारा रचित 32 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। जिसमें राम काव्य, कृष्ण काव्य, नानक काव्य और फुटकर काव्य हैं। प्रस्तुत लेख में उनके राम काव्य विषयक ग्रंथों को ही लिया गया है, यही इस शोध पत्र की सीमा भी है।

भक्ति और काव्य प्रतिभा के जन्मजात अधिकारी सूर, तुलसी, नन्ददास तथा रसखान निर्मित मणिमाल में रत्नहरि अविकल्पतः अनुस्यूत हैं (संपादक, मिश्र, भगीरथ, सं. 2029 वि.)। यदि पीयूषकंठ जयदेव महाप्रभु को गीतकाव्य का प्रथम छोर मान लें तो संत रत्नहरि निश्चयपूर्वक उसके दूसरे छोर हैं (चंद्रकांत बाली, 1962)। भागीरथ मिश्र (सं. 2029 वि.) द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग 7) में लिखा है-

‘शब्दशोधन, रूपचित्रण, भावाभिव्यंजन, कल्पना की उड़ान तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि की दृष्टि से रत्नहरि रीतिकाल के शीर्ष कवियों में से एक हैं। भक्तिभावना के साथ नाद व्यंजकता उनके काव्य का विशिष्ट गुण है। वस्तुतः रत्नहरि का व्यक्तित्व भक्तिभावना और काव्यप्रतिभा का अद्भुत मिश्रण है। कविता का नमूना देखिए-

‘सिय संदेस सुदेस चले हरिवरेश हरि तीरा ।
गिरि अरिष्ट इत गुन गरिष्ठ सरितापति तीरा ।
तापर चढ़े कूदिकपि केहरि थरहर कंपति कीनों ।
सुरस विलास निवास तासु जौ सबनि विदा करि दीनौ ।
कूदत कपि पग धमक धरनि मैं धरयो धराधर समरे ।
उच्च त्रिदस जोजन दस जोजन हुतौ बसुमति बगरे ।
इत अति वेग वेगनिधि धाए तजि उदेक सागर कौ ।
मारुतसुत मरुतगति गबने उर धरि रघुनागर कौ ।’

रत्नहरि का अविर्भाव रीतिकाल के अंतिम चरण में हुआ था। संभव है कि युग प्रवृत्ति में परिवर्तन के कारण रत्नहरि के ग्रंथ प्रसिद्धि न पा सके। खोज विवरणों, इतिहास ग्रंथों में इन कृतियों का उल्लेख होने पर भी विस्तृत एवं समीक्षात्मक अध्ययन के अभाव में रत्नहरि के काव्य का उचित

मूल्यांकन नहीं हो पाया। फिर भी विद्वानों द्वारा किए उल्लेख, सूत्र संकेत और संक्षिप्त विवरण इस कवि की ओर पाठकों और शोधकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं उनका उल्लेख निम्नलिखित है -

इनकी प्रशस्ति में लिखित भारतेन्दु हरिश्चंद्र का निम्न छप्पय कई तथ्यों का उद्घाटक है :

क्षत्रियवंश गुलाबसिंह सूत मत रामानुज,
रामकुमारी गर्भरत्न त्यागी मंडलधुज।
सुबस वेद बसुचंद्र आठ कातिक प्रकटाये,
श्री हरिमहिमा ग्रंथ बत्तीस बनाये।
रणजीत सिंह बहुविधि कद्यो तदपि नाहिं दरसन दियो,
श्रीभक्तरत्नहरि दास जू पावन अमृतसर कियो।

सर्वप्रथम भारतेन्दु ने रत्नहरि के बत्तीस ग्रंथों का उल्लेख किया था। (उत्तरार्द्ध भक्तमाल, पद 196) तदुपरांत रामकृष्ण दास छिब्र ने 'रामललाम गीत' की भूमिका में रत्नहरि के इकतीस ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की, (छिब्र, रामकृष्ण दास, 1891)। तत्पश्चात खोज विवरणों के आधार पर मिश्र बंधुओं ने रत्नहरि की चार रचनाओं के नाम गिनाए, जो इस प्रकार हैं- दाशरथि दोहावली, द्वारा द्वारार्थ दोहावली, यमक-दमक दोहावली, रामरहस्य (मिश्रबंधु विनोद, पृष्ठ 1028)। इन चारों रचनाओं में से इस अध्येता को केवल 'राम रहस्य' उपलब्ध हुई है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्त लिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण द्वितीय खंड' में भी इन चारों रचनाओं का नाम परिगणन यथावत् करते हुए इनका प्राप्ति स्थान सरस्वती पुस्तक भंडार, अयोध्या बताया गया है (नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्ट, 2021 वि)। इस रिपोर्ट पर दिए गए स्थान पर छानबीन करने पर केवल 'राम रहस्य' ही प्राप्त हुआ शेष ग्रंथों का कोई पता नहीं चला। 'कल्याण' के भक्त चरितांक(भाग एक) में रत्नहरि के निम्नलिखित बीस ग्रंथों का उल्लेख मिलता है-

1. रामरहस्य (5000 पद) 2. प्रश्नोत्तरी, 3. रामललाम (6000 पद) 4. सार संगीत (6000 पद), 5. दाशरथि दोहावली (125 पद), 6. नानक चंद्र चंद्रिका, 7. यमक-दमक दोहावली (125 पद), 8. गूढार्थ दोहावली, 9. एकादश स्कंध भागवत का, 10. कौशलेश कवितावली (108 कवित्त), 11. गुरुकीर्ति कवितावली(108 पद), 12. कुसुम क्यारी (36 कवित्त), 13. दशम स्कन्ध कवितावली (167 कवित्त), 14. महिम्न कवितावली (27 कवित्त), 15. नानक नवक (9 कवित्त), 16. रास पंचाध्यायी (60 कवित्त), 17. ब्रज यात्रा (150 कवित्त), 18 कवित्त कादंबिनी (150 कवित्त), 19. रघूत्तम सहस्र नाम (25 श्लोक), 20. पद रत्नावली।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (संपादक, मिश्र, भगीरथ, सं. 2029 वि.) में भी उपर्युक्त तालिका की पुनरावृत्ति हुई है लेकिन गूढार्थ दोहावली और पद रत्नावली को छोड़कर 18 ग्रंथों का उल्लेख करते हुए 32 ग्रंथ स्वीकार किए हैं। इंद्रपाल सिंह 'इंद्र' (1965) ने अपनी पुस्तक 'रीतिकाल के प्रमुख प्रबंध काव्य' में रत्नहरि का संक्षिप्त सा परिचय दिया है। रत्नहरि के ग्रंथों की सर्वाधिक प्रामाणिक जानकारी रामकृष्ण दास छिब्र (1891, 7-8) ने दी है। उनके अनुसार रत्नहरि ने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है-

1. प्रश्नोत्तरी स्वामी शुकदेव कृत, 2. ब्रह्म रहस्य (वेदांत विषय), 3. राम रहस्य, 4. श्री

रामललाम गीत (संक्षिप्त बाल्मीकि रामायण), 5. श्री नानकचन्द्र चंद्रिका, 6. श्री गुरुकीर्ति कवितावली, 7. सार संगीत (संक्षेप श्रीमद्भागवत), 8. रघूत्तम सहस्रनाम, 9. श्री नानक नवक, 10. विनय बारही, 11. कृष्ण कवितावली (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध, दशमस्कंध), 12. दाशरथि दोहावली, 13. कौसलपति कवितावली, 14. द्वारा द्वारार्थ दोहावली, 15. यमक-दमक दोहावली, 16. कवित्त कार्दबिनी (श्रीमद्भागवत), 17. एकादश संग्रह (श्रीमद्भागवत), 18. गीत गोविंद, 19. रास पंचाध्यायी, 20. भगवद्गीता, 21. अष्टक, 22. महिम्न स्तोत्र, 23. ब्रज यात्रा, 24. राम विष्णु युगल सहस्र नाम, 25. पद रत्नावली, 26. आलु विंदार विष्णु स्तोत्र, 27. कुसुम कियारी, 28. श्री जानकी जीवन यमक पचीसी, 29. रघुवर लीला, 30. फुटकल कवितावली, 31. दाशरथि प्रार्थना स्तोत्र ।

उपर्युक्त में से उपलब्ध ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

रामरहस्य

उपलब्ध प्रतियां- इस ग्रंथ की निम्नलिखित तीन प्रतियां उपलब्ध हैं-

1. राम रहस्य, पंजाब विवि पुस्तकालय, चंडीगढ़, क्रम सं 118
2. राम रहस्य, पंजाब विवि पुस्तकालय, चंडीगढ़, क्रम सं 326
3. रामरहस्य, सरस्वती पुस्तक भंडार, अयोध्या, क्रम सं 651

इनमें प्रथम दो पांडुलिपियां गुरुमुखी लिपि में हैं, तीसरी के विषय में कहा गया है कि यह नागरी में है किंतु मुझे यह देखने का अवसर नहीं मिला है ।

रचनाकाल

‘रामरहस्य’ के रचनाकाल के विषय में रत्नहरि ने स्वयं बताया है कि-

संवत नव नव वसु ससी सरसुम दिवस दिनेस ।

फाल्गुन वदि पूरन करयो राम रहस्य रमेस॥ (1)

इस उद्धरण में नव (9) नव(9) वसु(8) और ससि (1) अकानामवामतो गति से 1899 की संख्या सामने आती है, स्पष्ट है कि ‘रामरहस्य’ का रचनाकाल संवत 1899 वि. है ।

प्रामाणिकता

‘राम रहस्य’ की प्रामाणिकता निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होती है-

1. ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में कवि का नाम है । यथा-

(क) इति श्री राम रहस्ये रत्नहरिविरचिते सत्योपाख्यान भाखा प्रबंधे मार्कंडेय बाल्मीकि संवादे द्वितीयोध्यायः ।(2)

(ख) इति श्री राम्रहस्ये रत्नहरि विरचते मंथरा-कैकेयी संवादे नाम अष्टमोध्यायः । (3)

अंतिम अध्याय की पुष्पिका के अतिरिक्त भी कवि का नाम आया है-

सियराम रम्य रहस्य यह सुखसदन सम सुखदायकं ।

विरचयो यथामति रत्नहरि रघुवर विहार विधायाकां॥(4)

वर्ण्य विषय

‘रामरहस्य’ का वर्ण्य विषय राम चरित के मधुर पक्ष का उद्घाटन करना है । राम के जीवन के मर्यादित पक्ष से तो राम भक्त परिचित थे किंतु उनके जीवन मधुर और रसपूर्ण पक्ष को रत्नहरि ने ‘रामरहस्य’ का विषय बनाकर भक्त के महामोद मंगल और आनन्द को ही व्यक्त किया है । इसलिए

इसमें राम के जीवन की उन विशेषताओं को उभारा है जिनकी इतिहासकारों, साहित्य मनीषियों और सुधि अनुसन्धाताओं ने दूर-दूर तक कल्पना भी नहीं की थी। इसीलिए ग्रंथ का शीर्षक 'राम रहस्य' सार्थक है-

1. अति रहस्य रघुवर चरित, बरनयो इहां विशाल ।
यातें नाम धरयो परख, राम रहस्य रसाल॥ (5)
2. प्रभु माधुर्य चरित्र महामोद मंगल करन ।
बरनयो व्यास बिचित्र भन्यो यथामति रत्नहरि॥(6)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'राम रहस्य' का वर्ण्य विषय राम के जीवन के रसिक और मधुर रूप से ही संबंध रखता है।

'राम रहस्य' पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दो भागों में है। पूर्वार्द्ध में 48, और उत्तरार्द्ध में 31 और कुल मिलाकर 79 अध्याय हैं। पूर्वार्द्ध की कथा में विष्णु का राम के रूप में, शेषनाग का लक्ष्मण के रूप में, चक्र व शंख का क्रमशः शत्रुघ्न व भरत के रूप में अवतरण होता है। तत्पश्चात् मंथरा द्वारा दशरथ व कैकेयी के विवाह का उल्लेख किया है। फिर पूर्व जन्म में मंथरा का देवताओं के साथ युद्ध में भगवान् विष्णु की सहायता से देवताओं की विजय और मंथरा की पराजय के परिणामस्वरूप मंथरा का विष्णु के अवतार राम से बदला लेने के लिए कैकेयी की दासी के रूप में जन्म लेने का वर्णन है। आम तौर पर राम भक्त या राम काव्य का पाठक यह नहीं समझ पाता कि आखिर मंथरा की राम के साथ क्या शत्रुता थी जो उसने कैकेयी को भड़का कर दशरथ को विवश कर दिया कि वे चौदह वर्ष के लिए राम को बनवास भेज कर भरत को राजा बना दें। रत्नहरि ने पूर्व जन्म की इस कथा का वर्णन करके मंथरा के इस कृत्य के औचित्य को समझाने का प्रयास किया है। इसके बाद ब्रह्मा आदि देवताओं का एकादशी के दिन अयोध्या आने और भगवान् राम की स्तुति करने का उल्लेख है। तदुपरांत रत्नहरि ने राम की मनोरम बाललीला, रत्ना की राम के प्रति उत्कट वत्सल प्रीति तथा उन्हें पुत्र के रूप में पाने के लिए कठोर तप करती हैं। जिसके फलस्वरूप भगवान् राम उन्हें साक्षात्कार कराके यह वरदान देते हैं कि द्वापर युग में वे कृष्ण के रूप में उनके घर जन्म लेंगे।

पूर्वार्द्ध में महाकवि रत्नहरि ने जिन अन्य प्रसंगों उल्लेख किया है उनके अंतर्गत रामनवमी का महातम्य, पांच चोरों के पतित से पावन होने का वृतांत, सरयू नदी द्वारा दशरथ को राम के अलौकिक स्वरूप का ज्ञान, राम की बालक्रीड़ा, महिष-किरात आदि की मुक्ति, आखेट लीला आदि मुख्य हैं।

'राम रहस्य' के उत्तरार्द्ध में रत्नहरि ने जिन प्रसंगों में अपनी काव्य प्रतिभा का लोहा मनवाया है वे हैं- सीता जी का जन्म, राम सीता का विवाह, भगवान् राम का एक पत्नी धर्म का पालन करना, विवाहोपरांत राम-सीता की प्रणयवार्ता, होली, हिंडोरा, अशोक वाटिका विहार, सीता जी की मानलीला, बसंत, दीपमाला- उत्सव, आदि का रसपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में राम के साथ कोई भी अप्रिय घटना घटित नहीं होती। श्री राम एक राजकुमार हैं और एक सुख-संपन्न जीवन जीते हैं। वे वन-वन में नहीं भटकते, न ही उन्हें कोई कष्ट-क्लेश होता है।

इस ग्रन्थ का मूल आधार 'सत्योपख्यान' ग्रंथ है, इस बात को स्वयं रत्नहरि स्वीकार करते हैं:

- (क) श्री सत्योपख्यान राम रहस्य रमणीय ।
ताकि भाखा भनित भली, करौ करनि कमनीय॥(7)

(ख) वेद व्यास वाणी विमल, श्री सत्योपाख्यान ।

करत आदि मंगल मधुर, मंजु मोद मन मान॥(8)

ब्रज भाषा में रचित 'राम रहस्य' शीर्षक इस उत्तम काव्य में महाकवि रत्नहरि ने दोहा- चौपाई शैली का प्रयोग किया है, बीच बीच में सोरठा भी आया है। इस ग्रन्थ में श्री राम भी कृष्ण के समान रास-लीला और रसपूर्ण मधुर लीलाएं करते हुए नजर आते ही हैं; लेकिन अपनी धर्मपत्नी सीताजी के साथ हिंडोला, होली आदि उत्सवों पर श्रृंगारिक चेष्टाएं भी करते नजर आते हैं।

राम-सीता के मधुर दांपत्य का चित्रण रत्नहरि बड़ी तल्लीनता के साथ करते हुए अपने प्रभु राम के आनंद को देखकर आनंदित होते हैं। राम-सीता की जल क्रीड़ा का उल्लेख करते हुए रत्नहरि कहते हैं कि सीता जी अपनी सखियों की मौजूदगी में ही मनोरमा नदी पर यवनिका की ओट में अपने पति श्री राम के साथ जल क्रीड़ा करती है जिसमें जल क्रीड़ा करते हुए दोनों परस्पर एक दूसरे पर जल फेंकते हैं। इससे दोनों के नयन लाल हो जाते हैं-

तटिनीतीर तीर सुविसाला । तने सुघने जवनिका जाला ।

तिनि की ओट करनि जललीला । प्रविस सिय रघुवर सुभलीला ।

सखिन सहित सिय परिहरि ब्रीड़ा । प्रिय संग करति कमल कल क्रीड़ा ।

विविध जतन जल छिरकि छबीली । हसति लसति रंग रसति रसीली ।

दुहि दिसि भए अरुन नव नैना । रहे बिलोकि थकित रति मैना ।(9)

राम एकपत्नी व्रत का पालन करने वाले हैं इस लिए वे श्री सीताजी के ही साथ जल क्रीड़ा करते हैं, उनकी सखियों के साथ नहीं।(10) जब सीता जी जल से बाहर निकलती हैं तो श्रीराम की दृष्टि अपने पर गड़ी पाकर शरमा कर आंचल की ओट में मुस्कुरा के चली जाती हैं। उनके भीगे हुए शरीर से चिपके वस्त्र और उनके उरोजों पर छिटकी हुई अलकें आदि श्रीराम में रति भाव को उद्बुद्ध करते हैं-

जिमि रमा रम्य रसोद तें निकासी लसी हरि उरबसी ।

रघुलाल लखि लज्जित दृग चलि ओट अंचल करि हसी॥

अम्बर सजल अलकें उरोजनी स्रवत सुभ संवरकनी ।

सब अंग अंग आनंद बृंदबरंगनासुखमा सनी॥ (11)

सीताजी की इस सुंदर छवि पर मुग्ध होकर रसिक रघुनंदन प्रसन्न होते हैं और उनके कमल समान हाथ को पकड़ कर फिर से खींच लेते हैं। पति-पत्नी के बीच का यह संबंध बड़ा ही मनमोहक और स्वाभाविक है-

सो छवि लखि विकसे हँसे, रसे रसिक रघुनंदन ।

गहि प्रिय पंकज पानि, लई एंचत सुखकंद॥ (12)

कवि श्रेष्ठ रत्नहरि ने दंपति श्रीराम और श्रीसीताजी के विवाहोपरांत होने वाली प्रणयवार्ता का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।(13) जिसमें विवाह के पश्चात श्रीराम अपनी पत्नी श्रीसीताजी के साथ महल की अटारी पर जाकर एकांत में परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। बातों ही बातों में रात हो जाती है। चंद्रमा की चांदनी चारों ओर छिटक जाती है। सीताजी के रूप सौंदर्य की प्रशंसा में सभी उपमानों को हीन बताते हुए श्रीराम कहते हैं कि धरती पर चांद से भी सुंदर सीता विद्यमान

है, जिनकी तुलना में उनके सामने खड़ा न हो सकने के कारण वह शर्म के मारे आसमान पर जा चढ़ा है-

जदपि चंद्र सुंदर जग जाना । तदपि न तव मुखचंद्र समाना ।
चंद्र दीह दूखन दुःख दीना । तव मुख सब दुःख दोख विहीना ।
दोखाकर जिहि नाम सुरंका । तव मुख सम किमि होत मयंका ।
लखि तव वदन सलज ससि भैऊ । तिहि दुःख मगन गगन चढ़ी गैऊ । (14)

‘वन-विहार’ प्रसंग में राम-सीता के प्रेम की गहराई का अंकन महाकवि रत्नहरि ने पूरी तल्लीनता के साथ किया है। प्रेम की आनन्दमयी अनुभूति के लिए एकांत और निश्चिंतता आवश्यक होती है। इसीलिए दुंदुभि नाद से जंगल के जीवों को भगा कर एकांत कायम किया जाता है। तत्पश्चात् श्रीराम और श्रीसीताजी वन में फूल चुनने के लिए आते हैं तो वहां अनेक प्रकार के रंग-सुगंध वाले सुमन अपनी अद्भुत सुषमा के साथ सुशोभित हो रहे थे। यह वन छहों ऋतुओं में खिलने वाले फूलों से संपन्न होने के कारण दंपतियों को उत्तेजित और उद्दीप्त करते हैं। जहां मांडवी-भरत राम की नजर बचाकर कहीं सरक जाते हैं, उर्मिला भरत और राम दोनों की नजर बचा कर लक्ष्मण के साथ कहीं खिसक जाती है, ऐसे ही श्रुतिकीर्ति शत्रुघन के साथ केलि करने के लिए कहीं निकल पड़ती है, सीता की चतुर सखी सुभगा राम-सीता को अकेला देखकर राम को सीता की सुकुमारता का ध्यान दिलाती है और उन्हें धीमे चलने को कहती है और राम मुस्कुरा के सीता को गले से लगा लेते हैं।(15)

तुलसी ने राम के चरित्र को केवल मर्यादित दृष्टि से ही देखा है वे राम को कृष्ण के समान रासलीला करते दिखने का सहस नहीं जुटा पाए जबकि रत्नहरि ने राम के मधुर रूप और रास-लीला करते दिखाने का साहस करते हुए भी राम-सीता के दाम्पत्य के मधुर प्रसंगों को काव्यरूप में बांधने का साहस रखते हुए भी मर्यादित रूप को अक्षत बनाए रखा है। इससे राम के सच्चे भक्त मुदित ही होते हैं न कि शर्म में गड जाते हैं। राम के इस रूप से राम-भक्त आनंदित तो होते ही हैं, उनकी भक्ति और राम में निश्चय और भी पुष्ट हो जाता है। रत्नहरि ने भी राम का रसिक रूप दिखाकर कृष्ण भक्तों को भी आकर्षित किया है कि वही आनंद उन्हें राम की रासलीला में मिल सकता है।

‘राम ललाम गीत’

‘उपलब्ध प्रति’

हिंदी साहित्य के राम काव्य की अमूल्य धरोहर के रूप में ‘रामललाम गीत’ की नागरी लिपि में एक प्रति उपलब्ध है। यह प्रति सन 1891 ई. में लाहौर में मुंशी गुलाब सिंह के छापेखाने द्वारा प्रकाशित है।

वर्तमान समय यह पंजाबी विवि के पुस्तकालय में दुर्लभ पुस्तक संकाय में उपलब्ध है जिसकी क्रम संख्या 33432 है।

रचनाकाल

‘रामललाम गीत’ का रचनाकाल सं. 1901 विक्रमी है। इसकी पुष्टि रत्नहरि ने स्वयं की है-

संवत् दस नौ एकसेक शुभ भादों शुक्ल सुहावन ।
ऋषि पंचमी अमीसी तिथि गुरुवार सारसर सावन॥(16)

इसके अनुसार 'रामललाम गीत' की रचना विक्रमी संवत् 1901 की भादों सुदी पंचमी तिथि को गुरुवार के दिन अमृतसर में हुई। यहां 'सारसर' का आशय अमृतसर से है।

प्रामाणिकता

निसंदेह 'रामललाम गीत' एक प्रामाणिक कृति है। यह निम्नलिखित से स्पष्ट हो जाता है :
ग्रंथ के प्रत्येक विश्राम और प्रत्येक कांड की पुष्पिका में कवि का नाम है। 'बालकांड' के तृतीय विश्राम की पुष्पिका का उदहारण प्रस्तुत है :

इति श्री रामललाम गीत हरिरत्नगीतरसधामा ।

बालकांड विश्राम राम परिपूरन किय श्री रामा॥(17)

उत्तरकांड के अंतिम विश्राम की पुष्पिका इस प्रकार है :

इति श्री रामललाम गीत हरि रत्न गीत रसधामा ।

उत्तरगत विश्राम नवम परिपूरन किय श्री रामा॥ (18)

दूसरी मुख्य बात जो इसे प्रामाणिक ठहराती है वह यह कि रामललाम गीत में कवि रत्नहरि द्वारा विरचित 'राम रहस्य' का छंद भी लिया गया है जो प्रसंगानुसार उपयुक्त है :

खण्डयोअखण्ड प्रचण्ड हरकोदण्ड राम महाबली ।

धुनि चण्ड अंड कटारु मण्डित खंड खंड हलाअली॥

नाकेस कपंत देव दम्पति केसि सम्पत्ति परि री ।

पाताल व्याल विहाल भूतल चास भूत मयंक री॥(19)

इसी तरह 'रामललाम गीत' के कुछ पद ज्यों के त्यों इनकी 'रघुवर पद रत्नावली' में भी मिलते हैं। स्पष्ट है कि 'रामललाम गीत' महाकवि रत्नहरि की एक प्रामाणिक कृति है।

वर्ण्य विषय

'रामललाम गीत' ग्रन्थ 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित ग्रंथ है जिसमें रामकथा को संगीत के राग रागनियों से बड़े ही मनमोहक ढंग से रचा गया है। 'वाल्मीकि रामायण' की तरह इसमें भी राम कथा को सात कांडों में बांटा गया है।

यहां राम कथा का आरंभ 'बालकांड' में पृथ्वी, देवताओं, ब्राह्मणों व ऋषियों की प्रभु के आगे प्रार्थना करने से होता है। उनकी इस आर्त पुकार को सुनकर रावण जैसे राक्षसों का वध करके भू-भार हरने के लिए स्वयं भगवान श्रीराम के रूप में दशरथ के घर जन्म लेते हैं। किशोरावस्था में ही वे ताड़का और सुबाहु जैसे असुरों का वध करके विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हैं। तत्पश्चात् जनकपुरी में शिव-धनुष तोड़कर सीताजी का वरण करते हैं। बालकांड की इस कथा में रत्नहरि ने वाल्मीकि रामायण में आए अनेक प्रसंगों को छोड़ दिया है लेकिन राम के शील और सौंदर्य की अति सुंदर अभिव्यंजना हुई है। विशेष रूप से राम के जन्म के उपलक्ष्य में बधाई पदों में और मिथिलापुर की युवतियों पर राम की मनमोहक रूप-राशि का प्रभाव रत्नहरि की मौलिक कल्पना है।

अयोध्याकांड में राजा दशरथ गुरु वशिष्ठ की सम्मति से श्रीराम के राज्याभिषेक का निर्णय लेते हैं। यहां देवताओं की प्रेरणा से मंधरा कैकेयी को भ्रमित कर देती है। कैकेयी राजा दशरथ को उनके प्रिय पुत्र राम की शपथ दिलाकर दो वरदान मांगती है। पहला यह कि राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास भेज दिया जाए, और दूसरा, भरत को राजा बना दिया जाए। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य

करते हुए राम वनवास के लिए प्रस्थान करने लगते हैं तो सीताजी और लक्ष्मण भी उनके साथ वनगमन करते हैं। वनवास के दौरान श्रीराम का शरणागत वत्सल रूप दिखाई पड़ता है और उनकी वन में उपस्थिति से वहां रहने वाले ऋषि-मुनि भी निर्भय हो जाते हैं। जब सुमन्त बिना श्रीराम के अकेले ही अयोध्या लौटते हैं तो सदमे से दशरथ की मृत्यु हो जाती है। गुरु वशिष्ठ की अनुमति से पितृकर्म और राज्याभिषेक के लिए भरत को बुलाया जाता है। पिता की मृत्यु और राम वनगमन की बात सुनकर भरत अपनी माता कैकेयी को दोषी ठहराते हैं और उसकी सख्त प्रताड़ना करते हैं। वे सेवक भाव से राम को वापस लाने के लिए जब वन में जाते हैं तो राम उन्हें पिता के वचन-पालन की मर्यादा का एहसास दिलाकर अयोध्या वापस भेज देते हैं लेकिन भरत वापिस आकर स्वयं राज्य नहीं करते अपितु श्रीराम की खडाऊं को सिंहासनासीन करते हैं।

अरण्यकांड में श्रीराम जयंत की धृष्टता के लिए क्षमा करके अपने शरणागत वत्सल रूप का दर्शन कराते हैं। फिर अत्रि आदि मुनियों के आश्रम में आते हैं, जटायु से भेंट करते हैं और पंचवटी में कुटिया बनाकर रहते हैं। यहीं पर सूर्पनखा को अपनी तीव्र कामुकता के कारण नाक-कान से विहीन होना पड़ता है। इसी कांड में श्रीराम खर-दूषण, त्रिशिरा सहित चौदह हजार राक्षसों का वध करते हैं। सूर्पनखा का रावण के पास जाकर अपने अपमान का बदला लेने के लिए उकसाती है और रावण सीताजी का अपहरण कर लेता है। राम विलाप करते हैं लेकिन जब वे कबंध का वध करते हैं तो उसकी मुक्ति हो जाती है जिससे वह राम को सुग्रीव के साथ भेंट करने का परामर्श देता है और राम पंपासर जाते हैं।

किष्किंधा कांड में श्रीराम की सुग्रीव से भेंट, बाली वध, वानरों द्वारा सीता की तलाश करते हुए सागर तट पर पहुंचने के उल्लेख है।

सुंदरकांड में जो मुख्य कथा प्रसंग चलते हैं वे इस प्रकार हैं- हनुमान सागर पार करते समय सिंहिका व सुरसा को परास्त करके लंका पहुंचते हैं और वहां सीता की खोज करते हैं। वे लंका को आग लगा कर सीता का समाचार लेकर श्रीराम तक पहुंचते हैं।

युद्धकाण्ड में श्रीराम का वानर सेना सहित लंका के लिए प्रस्थान। विभीषण का राम की शरण में आना, श्रीराम द्वारा सागर का पराभव, सेतुबंध, वानर सेना का लंका आगमन, सुग्रीव-रावण में द्वंद्व युद्ध, श्रीराम द्वारा रावण को समझाने के लिए अंगद को शांतिदूत बनाकर भेजना, रावण के इनकार करने पर वानरसेना एवं आसुरीसेना के बीच हुए भयंकर युद्ध का अत्यंत सजीव वर्णन हुआ है। इस युद्ध में श्रीराम रावण का वध करके विजयी होते हैं। सीता की अग्नि परीक्षा के उपरांत श्रीराम उन्हें पुष्पक विमान में बिठाकर मार्ग में आने वाले सभी स्थल और दृश्य दिखाते हुए अयोध्या आते हैं। उनके साथ हनुमान और सुग्रीव आदि भी अयोध्या आते हैं। आतुरता से प्रतीक्षारत भरत उनका स्वागत करते हैं और श्रीराम सिंहासन पर विराजमान होते हैं।

उत्तरकांड की कथा में श्रीराम लोक मर्यादा का पालन करते हुए सीता को वन में भेज देते हैं। शत्रुघ्न मधुकैटभ राक्षस का वध करते हैं और वहां मथुरा नगर बसाते हैं। वापसी में वे वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश मधुर गानपर मुग्ध होते हैं। जब लव-कुश श्रीराम की सभा में सारी रामकथा का गायन करते हैं तो श्रीराम समझ जाते हैं कि ये दोनों उनके ही पुत्र हैं। वे सीता को पुनः शपथ खाकर स्वीकार करने को तत्पर हो जाते हैं किंतु सीता जी पृथ्वी प्रवेश कर जाती हैं। अंत में श्रीराम अपने

सभी भाइयों सहित महाप्रयाण करते हैं। यहीं पर रामकथा का समापन होता है।

महाकवि रत्नहरि ने 'रामललाम गीत' के प्रबंध कौशल, और अपनी अद्भुत काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। इस कथाकाव्य के सब अवयवों में उचित समीकरण है। कोई भी कांड आवश्यकता से अधिक इतिवृत्तात्मक नहीं बना है। संगीतात्मकता और रसात्मकता सर्वत्र विद्यमान है।

रघुवर पदरत्नावली

रघुवर पदरत्नावली की दो प्रतियां उपलब्ध हैं- एक, भाषा विभाग पुस्तकालय, पटियाला, पाण्डुलिपि सं. 356. दूसरी, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, पाण्डुलिपि सं. 415, ये दोनों प्रतियां गुरुमुखी लिपि में और ब्रजभाषा में लिखी गई हैं।

रचनाकाल

'रघुवर पद रत्नावली के रचनाकाल के विषय में कवि ने कुछ नहीं लिखा है लेकिन शमशेर सिंह 'अशोक' द्वारा लिखित 'पंजाबी हथ लिखितां दी सूची' में इसका रचनाकाल उन्नीसवीं सदी बताया है जो प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस कृति में 'रामललाम गीत' के बहुत से पद उद्धृत हैं और 'रामललामगीत' का रचनाकाल संवत् 1901 है। इसलिए रघुवर पद रत्नावली का रचनाकाल संवत् 1901 के बाद का ही माना जाएगा।

प्रामाणिकता

'रघुवर पद रत्नावली' रत्नहरि की प्रामाणिक रचना है। यह निम्नलिखित से सिद्ध हो जाता है:

1. इसके अनेक पदों में कवि रत्नहरि का नाम आता है, यथा-

जानकी के प्रान प्यारे मेरे तो जीवन आधारे,
दसरथ जू के वारे जगत उजियारे ज्वारे।
सब सुख देन वारे सुंदरस्वारे न्यारे,
देखत वदन सुख सदन मदन मद नवारे।
गौतम तिय तारन हारे पद पंकज रज तिहारे,
पतित उधारे भारे चरन सरन जे पधारे।
बरन बरन हारे निगम आगम बिचारे,
रत्नहरि पावत नाहि गनगन गन पार वेरे। (20)

2. दूसरे, इसमें कुछ पद 'रामललाम गीत' और 'रामरहस्य' से ज्यों के त्यों लिए गए हैं। 'रामललाम गीत' का निम्नलिखित पद उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है-

मेरे मन में लागे री दशरथ राजकुमार चार।
क्रीट मुकुट कुंडल की चटक लट लटक खटक रही हियरा मोरे
अटक अटक दृग हटक न मानत गटकि गटकि छवि सार सार।
चंद वदन बर कुंद रदन हसि मंद मंद मन नजर बंद किए
अवध चंद आनंद कंद छवि कविन न पायो पारावार। (21)

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर 'रघुवर पदरत्नावली' की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

वर्ण्य विषय

'रघुवर पदरत्नावली' में राम कथा का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें रामजन्म से लेकर रावण वध की

कहानी का चित्रण छह कांडों में किया गया है। उत्तरकांड में रत्नहरि ने राम के रसिक रूप का मनोहारी अंकन करके माधुर्य भक्ति की मिसाल पेश की है। इस ग्रन्थ में श्रीराम और श्रीसीताजी के जीवन के शृंगार का खुला वर्णन रामभक्ति को अक्षुण्ण रखता है। बीच-बीच में रत्नहरि की दैन्य भक्ति भी सामने आती है-

*जानकी जीवन की बलिहारी ।
अधम उधारनदसरथ नंदन सुंदर सरनागति हितकारी ।
सबरी गीधभील खल वानर गौतम नारि सिला तुम तारी ।
चरन सरन दुःख हरन रावरे रत्नहरि स्वामी अवध विहारी । (22)*

‘रघुवर लीला’

‘रघुवर लीला’ पंजाब विवि चंडीगढ़ के पुस्तकालय में उपलब्ध है और यह ‘रघुवर पद रत्नावली’ के साथ ही संलग्न है। इस कृति का आकार और लिपि भी ‘रघुवर पद रत्नावली’ के समान ही है।

रचनाकाल

इस कृति के रचनाकाल के विषय में कवि की ओर से या लिपिक की ओर से कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

प्रामाणिकता

‘रघुवर लीला’ असंदिग्ध रूप से कवि रत्नहरि द्वारा रचित प्रामाणिक रचना है इसका प्रमाण यह है कि इसमें अनेक स्थानों पर कवि रत्नहरि का नाम आया है। जैसे-

*आज्ञा मान भरत पुर आए ले खराऊं प्रभ की ।
राम भए वनवासी आपदा नासी मुनिसम की ।
प्रभु पांवरी पूज भरत मुनिबेख भए घर में ।
राम ध्यान दिन रैन चौन बिन नैन बैन भर में ।
रत्नहरि परे सरन आई । (23)*

वर्ण्य विषय

‘रघुवर लीला’ में मात्र तेरह पदों में कवि रत्नहरि ने राम कथा को समेट लिया है। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि भगवान की लीला का प्रयोजन है अपने भक्तों के कष्टों को दूर करना है। भक्त ही भगवान की लीला के निमित्त बनते हैं-

*कलिकाल में रामलाल की लीला सुखदाई ।
और कर्म नहीं कोऊ करो कोऊ कोटिक चतुराई ।
भक्त हेत हरि ने यह लीला करी मनभाई ।
करम रेख जीवन में नहीं रघुवर में बनि आई । (24)*

विनय बारही

इस कृति की पांडुलिपि भाषा विभाग पंजाब, पटियाला के पुस्तकालय में विद्यमान ‘रघुवर पद रत्नावली’ के साथ संलग्न है। इस पाण्डुलिपि की क्रम संख्या 356 है।

रचनाकाल

इस कृति के रचनाकाल का निर्णय अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर भी नहीं होने का

कोई सुबूत नहीं मिलता। 'रघुवर पद रत्नावली' के साथ संलग्न होने के कारण यह माना जा सकता है कि 'विनय बारही' की रचनाकाल 'रघुवर पद रत्नावली' के बाद का ही हो सकता है।

प्रामाणिकता

इस कृति की प्रामाणिकता इस बात से पुष्ट होती है कि इसके अनेक पदों में रत्नहरि का नाम आया है। यथा -

पावन पतित विरद अब अपनौ सियपति सफल सुकरि हौं।
मोसे अधम अधम तें अधमहिं अधम उधरजु उधरि हौं।
नर सुर औंक विरंच लोक सौं सुजस अलोक प्रचरि हौं।
सब पतितन में पतित रत्नहरि तारि तुमहूं सुभरि हौं। (25)

वर्ण्य विषय

'विनय बारही' का वर्ण्य-विषय इसके शीर्षक में आए 'विनय' शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है। 'विनय बारही' में महाकवि रत्नहरि ने भगवान् श्रीराम से अपने उद्धार के लिए अत्यंत दीनता के साथ बारह बार गुहार लगाई है। इस कृति में रत्नहरि की प्रपत्यात्मक भक्ति का स्वरूप सामने आया है। यथा -

कृपा कर करिओ अपनों राम।
मोपे कोऊ न गुन गुननिधि जाते रिझयो अभिराम।
धरम न ज्ञान न ध्यान रावरो नहिं जोग को जोगु।
फिरौ भूरि भटकत भव सागर ग्रस्यो ग्रह दुःख रोग।
तातें हरन विरद अपनो रघुरत्न हरे लबु लेहु। (26)

स्पष्ट है कि 'विनय बारही' रत्नहरि के आत्मनिवेदन का भक्तिपरक ग्रंथ है।

'जानकी जीवन यमक पचीसी'

'जानकी जीवन यमक पचीसी' की प्रति पंजाब विवि चंडीगढ़ के पुस्तकालय में पांडुलिपि क्रम संख्या 400 पर उपलब्ध है इसकी लिपि गुरुमुखी है।

रचनाकाल

इस कृति में रचनाकार और लिपिकार की ओर से कोई जानकारी उपलब्ध नहीं कराई गई।

प्रामाणिकता

यह रत्नहरि विरचित प्रामाणिक कृति है। कृति के आरंभ में वंदना के रूप में 'सत गुरु प्रसाद' व 'श्रीरामाय नमः' लिखा है, जो रत्नहरि के अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह कृति रत्नहरि विरचित 'नानक नुति नवक' और 'गुरुकीर्ति कवितावली' के साथ संलग्न है और इसकी पृष्ठ संख्या भी उन्हीं के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती है। तीसरे, रामकृष्ण दास छिब्वर ने 'रामललाम गीत' की भूमिका में रत्नहरि 31 ग्रंथों में इसकी परिगणना की है। इन तर्कों से स्पष्ट है कि 'जानकी जीवन यमक पचीसी' रत्नहरि की प्रामाणिक रचना है।

वर्ण्य विषय

'जानकी जीवन यमक पचीसी' का वर्ण्य विषय के अंतर्गत जानकीजीवन अर्थात् श्रीराम का जीवन चरित पच्चीस छंदों में लिखा गया है। कवि ने इसमें यमक अलंकार का चमत्कार दिखा कर

अपने काव्य कौशल और भाषा ज्ञान का परिचय दिया है। इस कृति में राम के जीवन से संबंधित सभी घटनाओं का समाहार किया गया है। उदहारण-

भू को भूरि भार हरने को हर
आदि सुर गावत में ऊंचे सुर प्रभु को सुजस जस ।
मुनि सरबस कही सुनो सरबेसन सों
हनिहौं हरख हर हनि रच्छ सर बस ।
ऐसे कहि सुरन कोण सुरन करन हित
अरिन सों अरि नरबपु बने नृप बस ।
देवे को बधाई धाई आई तिय तजि बास
हेरि सिसु रत्न हरखि बरैबास बस ।(26)

‘जुगल सहस्रनाम’

यह कृति सन 1927 में ब्रिजानंद प्रेस लाहौर में छपी थी। इसमें कुल 56 छंद हैं।

रचनाकाल

‘जुगल सहस्रनाम’ के अंतिम छंद में इसके रचनाकाल के विषय में निम्नलिखित जानकारी मिलती है-

उन्नीस शत इकतीस शुभ, संवत् कार्तिक मास ।
दीपमाल दीप्त भयो, नाम सहस्र सो प्रकास॥(27)

इस दोहे के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ‘जुगल सहस्रनाम’ का रचनाकाल कार्तिक मास, संवत् 1931 है।

प्रामाणिकता

इस कृति की प्रामाणिकता निम्नलिखित तीन बातों से सिद्ध होती है-

1. पहली बात, इसकी भूमिका में रत्नहरि का नाम आया है-
‘इति श्री विष्णुराम जुगल सहस्रनाम रत्नहरि का समाप्तं ।’
2. दूसरी बात, रामकृष्ण दास छिब्वर ने ‘राम ललाम गीत’ की भूमिका में रत्नहरि विरचित 31 ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख किया है।
3. तीसरी बात, इस ग्रंथ में रत्नहरि और उनके चले हरनाम दास की फोटो भी छपी है।

शीर्षक

इस कृति के आवरण पृष्ठ पर ‘जुगल सहस्रनाम’ शीर्षक दिया है, जबकि पुस्तक के आरंभ में लिखा है, ‘अथ विष्णुराम युगल सहस्रनाम भाषा कवित्त बंध’। पुस्तक के अंत में भी लिखा है, ‘इति श्री विष्णुराम युगल सहस्रनाम रघुवंश रत्नहरि का’। इससे सिद्ध होता है कि इस रचना का शीर्षक ‘जुगल सहस्रनाम’ नहीं अपितु ‘विष्णुराम युगल सहस्रनाम’ है।

वर्ण्य विषय

इस रचना का वर्ण्य विषय राम और कृष्ण को एक मानकर उनके अनेक नाम गिनाए गए हैं जिनसे रत्नहरि के ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित होता है :

शान्ताकार राम राम भुजंग शयन
 राम पद्म सुनाम राम सुरीश मानिये ।
 विश्व के आधार राम गगन सरस राम
 मेघ से वर्ण राम शुभ अंग जानिये ।
 लक्ष्मी के कंत राम कमल नयन राम
 जोगिन के ध्यान राम गामी रामहि प्रमानिये ।(28)

निष्कर्ष

विलासिता प्रधान और भोग-विलास में डूबे हुए रीतिकाल में भक्ति की अजस्र धारा का प्रवाह रत्नहरि के काव्य में मिलता है। यह भौतिकता के रोग से ग्रस्त इंटेसिव केयर यूनिट में पड़े रोगी को जीवदान देने जैसा है।

राम कथा जहां आत्मा को सुकून दिलाती है वहीं भक्तों का मन सदैव इसमें रमता रहता है। इनकी रचनाओं में एक अजब मस्ती और अपनेपन की विशेषता विद्यमान है। अपने अभिव्यंजन सौष्ठव और काव्य शिल्प के कारण और अपने हृदय में भक्ति की तीव्र अनुभूति के कारण ये रचनाएं अपना सहज और स्थायी प्रभाव डालती हैं। रत्नहरि के रामकाव्य विषयक ये ग्रंथ हिंदी साहित्य की ही नहीं भारतीय संस्कृति की विरासत और अनमोल निधि हैं। निश्चय ही यह शोध पत्र राम भक्ति की परंपरा के क्षेत्र में शोध की नयी संभावनाओं को उजागर करता है।

संदर्भ

- कल्याण, भक्त चरितांक, भाग-1, पृष्ठ 32
 छिब्वर, रामकृष्ण दास, (1891), भूमिका, रामललाम गीत, लाहौर : गुलाब सिंह. पृष्ठ 7-8
 नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (संवत् 2021 वि) खोज रिपोर्ट, पृष्ठ 212
 बाली, चंद्रकांत, (1962), पंजाब प्रांत का हिंदी साहित्य का इतिहास, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग, पृष्ठ 335
 मिश्रबंधु (1985 वि), मिश्रबंधु विनोद, तृतीय भाग, पृष्ठ 1028)
 मिश्र, भगीरथ (संपादक, सं. 2029 वि.) हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास(सप्तम भाग), वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ 312
 सिंह, इंद्रपाल 'इंद्र'(1965), रीतिकाल के प्रमुख प्रबंध काव्य, आगरा : विनोद पुस्तक, पृष्ठ 123
 हरिश्चन्द्र भारतेंदु, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, पद 196

1. राम रहस्य, अध्याय 79, दोहा 28
2. वही, अध्याय 2
3. वही, अध्याय 3
4. वही, अध्याय 79, छंद 15
5. वही, अध्याय 1, छंद 10
6. वही, अध्याय 79, छंद 17
7. वही, अध्याय 1, छंद 7

8. वही, रहस्य, अध्याय 1, छंद 8
9. वही, अध्याय 67, पद 6
10. वही, अध्याय 76, पद 8-10
11. वही, पद 12
12. वही, पद 13
13. वही, अध्याय 64, पद 4-7
14. वही, पद 8
15. वही, अध्याय 68, पद 1-4
16. रामललाम गीत, उत्तरकांड, विश्राम नवम, पद 126
17. वही, बालकांड, विश्राम तृतीय
18. वही, उत्तरकांड विश्राम नवम
19. वही, बालकाण्ड, विश्राम तृतीय, पद 9
20. रघुवर पद रत्नावली, उत्तरकांड, पद 57
21. रघुवर पद रत्नावली, बालकांड, पद 19, (रामललाम गीत, विश्राम द्वितीय, पद 38
22. वही, उत्तरकांड, पद 60
23. रघुवर लीला, पद 7
24. वही, पद 1
25. विनय बारही, पद 3
26. जानकी जीवन यमक पचीसी, पद 1
27. जुगल सहस्रनाम, छंद 56
28. जुगल सहस्रनाम, छंद 1



नवजागरण और स्त्री कविता

गरिमा श्रीवास्तव

सांस्कृतिक इतिहास की दरारों को भरने के लिए हाल के वर्षों में स्त्री के लिखे हुए पर पुनर्विचार करने और शोध की जरूरत पड़ी है। इसे हम स्त्रीवादी इतिहास लेखन (Feminist Historiography) कह सकते हैं जो इतिहास का मूल्यांकन जेंडर के नजरिए से करने का पक्षधर है। दरअसल स्त्रीवादी इतिहास लेखन समूचे इतिहास को समग्रता में देखने और विश्लेषित करने का प्रयास करता है, जिसमें मुख्यधारा के इतिहास से छूटे हुए, अनजाने में, या जानबूझ कर उपेक्षित कर दिए वंचितों का इतिहास और उनका लेखन शामिल किया जाता है। यह स्त्री को किसी विशेष संदर्भ या किसी सीमा में न बांधकर, एक रचनाकार और उसके दाय के रूप में देखने का प्रयास है। स्त्रियों की रचनाशीलता के संदर्भ में जेंडर-विभेद को देखने और साथ ही सामाजिक संरचनागत अपेक्षित बदलाव जो घटने चाहिए, उनका दिशा-निर्देश करता है। स्त्री साहित्येतिहास को उपेक्षित करके कभी भी इतिहास -लेखन को समग्रता में नहीं जाना जा सकता। कुछेक इतिहासकारों को छोड़ दें तो अधिकांश इतिहासकारों ने स्त्रियों के सांस्कृतिक -साहित्यिक दाय को या तो उपेक्षित किया या फुटकर खाते में डाल दिया। आज जरूरत इस बात की है कि सामाजिक अवधारणाओं, विचारधाराओं और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, समाज-सुधार कार्यक्रमों के पारस्परिक संबंध को विश्लेषित-व्याख्यायित करने के लिए स्त्री-रचनाशीलता की अब तक उपेक्षित, अवसन्न अवस्था को प्राप्त कड़ियों को ढूंढा और जोड़ा जाए, जिससे साहित्येतिहास अपनी समग्रता में सामने आ सके।

स्त्रियां लिखकर अपने आपको बतौर अभिकरण (एजेंसी) कैसे स्थापित करती हैं, पूरी सामाजिक संरचना को कैसे चुनौती देती हैं और इस तरह साहित्य और विशिष्ट ज्ञान धारा में दखलंदाजी करती हैं। यह जानने के लिए विभिन्न जीवंत संरचनाओं के प्रतीकों से स्त्रियों को जोड़कर देखने की जरूरत पड़ती है। हिंदी साहित्य के संदर्भ में विचार करें तो स्त्री की रचनाशीलता के अधिकतर ज्ञात प्रसंग मुख्यतः मध्यवर्गीय हिंदू स्त्रियों के ही मिलते हैं, जो इतिहास की जानकारी को एक पक्षीय और एक रेखीय बनाते हैं। यहीं पर इतिहास के पुनर्पाठ और आलोचनात्मक प्रतिमानों के पुनर्नवीकरण की जरूरत महसूस होती है। नामवर सिंह ने साहित्येतिहास की पुनर्व्याख्या के संदर्भ में सही ही कहा है 'नवीन व्याख्याओं का उपयोग भर इतिहास नहीं है, इतिहास स्वयं में एक नई व्याख्या है।' (हिंदी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार, हिंदी समय.कॉम) इतिहास की समस्या से संबद्ध है रचना की आलोचना, उसके मूल्यांकन की समस्या है क्योंकि रचना के अभाव में इतिहास का लेखन असंभव

है लेकिन ऐसी पूरी परंपरा जिसकी उपेक्षा कर दी गयी हो उसके बारे में नामवर सिंह या रामविलास शर्मा जैसे इतिहासकार मौन हैं। समूची साहित्य-परंपरा में स्त्री रचनाशीलता के दखल को कम करके आंकना, या उसे भावुक, अबोधिक साहित्य कहकर दरकिनार करने की रणनीतियों को स्त्री साहित्येतिहास लेखन ने समझा और अपने ढंग से इसे चुनौती भी दी है।

हाल के वर्षों में स्त्री कविता के इतिहास और स्त्रियों की रचनाओं को एक बड़ा पाठक और प्रकाशक वर्ग मिला है, लेकिन अब भी नवजागरण के दौर के स्त्री साहित्य के प्रकाशन और मूल्यांकन का अभाव ही है-

नवजागरण के दौर की स्त्री कविता के कुछ तयशुदा पैटर्न हमें अब तक उपलब्ध कविताओं में दिखाई पड़ते हैं-

1. लोकसंपृक्ति
2. आध्यात्मिकता
3. भक्ति और प्रेम
4. गृहस्थी और वैराग्य
5. राष्ट्र प्रेम
6. आत्मालोचन
7. फुटकल-समस्यापूर्ति, प्रकृति चित्रण आदि

इस दौर की रचनाओं को, सन 1931 में ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल ने 'स्त्री कवि कौमुदी' में संकलित करने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास किया, जिसमें मीराबाई, ताज, खगनिया, शेख, छत्रकुंवरी बाई, प्रवीण राय, दयाबाई, कवि रानी, रसिक बिहारी, ब्रजदासी साई, प्रताप कुंवरी बाई, सहजो बाई, झीमा, सुंदर कुंवरी बाई, चम्पादे, विरन्जी कुंवरी, रत्न कुंवरी बीबी, प्रताप बाला, बाघेली विष्णु प्रसाद कुंवरी, रतन कुंवरी बाई, चन्द्रकला बाई, जुगलप्रिया, राम प्रिया, रणछोड़ कुंवरी, गिरिराज कुंवरी सरीखी मध्यकालीन रचनाकारों से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर तक की हेमंत कुमारी चौधरानी, रघुवंश कुमारी, राजरानी देवी, सरस्वती देवी, बुन्देला बाला, गोपालदेवी, रमादेवी, राजदेवी, रामेश्वरी नेहरू, कीरति कुमारी, तोरन देवी शुक्ल 'लली', प्रियंवदा देवी और उसके बाद के दौर में भी रचनारत सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, कुसुम माला सम्मिलित हैं। स्त्री साहित्येतिहास की दृष्टि से यह पहला उल्लेखनीय कार्य है। यद्यपि इससे पहले नागरी प्रचारिणी सभा की रपटें, मुंशी देवी प्रसाद द्वारा 'महिलामृदुवाणी' का संकलन किया गया। स्त्री कवि कौमुदी के संपादक ज्योति प्रसाद मिश्र का हवाला देते हुए इसकी ताजा पुनर्प्रस्तुति की भूमिका में कहा गया- 'ग्रंथ में लिखित दोनों भूमिकाएं (ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत) इस तथ्य से सहमत हैं कि हिंदी साहित्य में इतिहास लेखन सदैव लैंगिक पूर्वग्रहों का शिकार रहा है। इसलिए स्त्रियों का लेखन सामने नहीं आया। यदि आया भी तो, उसका समुचित उल्लेख साहित्यिक इतिहासों में प्रायः नहीं मिलता' (स्त्री-कविकौमुदी-प्रस्तुति बलवंत कौर, भूमिका, अनन्य प्रकाशन 2014 : पृष्ठ 8) इन स्त्री रचनाकारों के अलावा भी कमला चौधरी, गोपाल देवी, तारापांडे, पुरुषार्थवती देवी, प्रियंवदा देवी, बुंदेलाबाला (गुजरातीबाई) महादेवीवर्मा, रघुवंशकुमारी, रमादेवी, राजकुमारी श्रीवास्तव, राजदेवी, राजराजेश्वरी देवी त्रिवेदी, रामकुमारी देवी चौहान, रामप्रिया,

रामेश्वरी देवी गोयल, रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी' रामेश्वरी नेहरु, विद्यावती को किल, से लेकर सुभद्रा कुमारी चौहान, हेमंत कुमारी चौधरानी और होमवती देवी तक नवजागरण के दौर की कवयित्रियों की लंबी फेहरिस्त है।

अकसर यह शिकायत इतिहास लेखकों को रहती है कि इनमें से कई स्त्रियां ऐसी हैं जिन्होंने या तो छद्म नामों से लिखाया फिर इनके लिए किसी और ने लिखा और प्रसिद्धि इन्हें मिली। यह भी कि यदि कोई स्त्री उत्कृष्ट रचना करने में सक्षम हो भी गई तो उसके मूल्यांकन का मापदंड पुरुष ही रहे। इस बात को मैं शंकरगरेजन के प्रसंग में स्पष्ट करना चाहूंगी। शंकरगरेजन संवत् 1712 में जन्मे आलम नामक ब्राह्मण कवि की पत्नी थी। आलम ने धर्म परिवर्तन करके उससे विवाह किया था क्योंकि वे शंकर की रचनात्मकता के कायल थे, उन दोनों का सम्मिलित काव्य संग्रह 'आलमकेलि' शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें कवित्त और सवैया छंद में 400 पद संकलित हैं। लाला भगवान दीन ने शंकरगरेजन की कविताई की प्रशंसा करते हुए कहा था 'शंकर यदि आलम से बढ़कर नहीं हैं तो कम भी नहीं। प्रेम की जिस धारा का प्रवाह आलम में है वही शंकर में। दोनों की रचनाएं ऐसी मिलती जुलती हैं कि उनका एक दूसरे से पृथक करना कठिन हो जाता है। नायिका भेद और कलापूर्ण काव्य की दृष्टि से शंकर को पुरुष कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी शुद्ध भाषा, सरल पद्धति और सुव्यवस्थित भाव-व्यंजना है। शंकर के पहले और बाद में भी बहुत दिनों तक शंकर जैसी ब्रज भाषा किसी भी कवयित्री ने नहीं कही।' (हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, चतुरसेन शास्त्री पृष्ठ 231)

अब यह भी देख लीजिए कि स्त्री-कविकौमुदी की भूमिका लिखने वाले रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का उसी शंकरगरेजन की रचनात्मकता के बारे में क्या कहना है। वे लिखते हैं 'हो सकता है कदाचित् शंकर के स्नेहासवपान से मदोन्मत्त भावुक प्रेमी ने ही प्रेम-प्रवाद में आकर शंकर के नाम से रचना की हो, जो शंकर के नाम से प्रसिद्ध हो गयी हो।' (वक्तव्य, स्त्री कविकौमुदी) स्पष्ट है कि स्त्री के लिखे के प्रति पुरुष आलोचकों और इतिहास-लेखकों की दृष्टि पूर्वाग्रह मुक्त कभी नहीं रही। वे यह समझ ही नहीं पाए कि रचनात्मक अभिव्यक्तियों के पीछे मनोसामाजिकी की प्रमुख भूमिका होती है। ऐसे किसी भी समाज में जहां आत्म को व्यक्ति से संवाद की छूट नहीं होती, पर्दा और चारदीवारी के भीतर जो भी, जैसे भी उपलब्ध हो सका उसी को पढ़-गुनकर, जो साहित्य लेखन में प्रवृत्त हुई, चाहे वह चैतन्य चरित के चुराकर फाड़े गए पन्ने हों (रास सुंदरी देवी) चूल्हे की राख में छिपाकर रखी गयी खड़िया हो- जिन्हें व्यवस्थित औपचारिक शिक्षा कभी नसीब ही नहीं हुई, जिन्होंने सदियों से श्रोता और अधीनस्थ की भूमिका निभाई। भाषिक संस्कारों के नाम पर, शासक वर्ग के पितृसत्तात्मक मुहावरे और अभिव्यक्तियां मिलीं, या कामगार जन की भाषा जिनसे उनका रोजमर्रा का संपर्क रहा करता। ऐसे में, उनकी भाषा और मुहावरे पितृसत्तात्मक हों यही स्वाभाविक था, यहां तक कि जिन विषयों का चयन उन्होंने लिखने के लिए किया वे भी पितृसत्तात्मक प्रभावों से मुक्त नहीं रहे। नवजागरण के दौर की जिन रचनाकारों ने काव्य रचनाएं कीं, उनके योगदान को आलोचकों द्वारा कभी खुले मन से स्वीकारा नहीं गया। रमाशंकर शुक्ल रसाल जिन्होंने कवयित्रियों के संग्रह की भूमिका लिखी, वे साहित्येतिहास में स्त्री रचनात्मकता की अवहेलना की बात स्वीकार करते हुए भी, उन्हें दोयम दर्जे की रचनाकार मानते हैं 'बोध-वृत्ति साधारणतया स्त्रियों में उतने अच्छे रूप में

नहीं मिलती जितनी वह पुरुषों में मिलती है ...इसलिए स्त्रियां भक्ति रचनाओं में ज्यादा रमती हैं अन्य विषयों की तरफ उतना आकर्षित नहीं होतीं'... गार्हस्थ्य संबंधी विषयों में दक्षता प्राप्त करना स्त्रियों का एक परमोच्च कर्तव्य है'- स्त्रियों को मर्यादा संबंधी दिशा-निर्देश देने से आलोचक नहीं चूके। आज भी नहीं चूकते ऐसे में स्त्रियों की बोध-वृत्ति सीमित नहीं होगी तो क्या होगा? सहज-स्वाभाविक मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की छूट उन्हें थी नहीं, शिक्षा और बाहरी समाज से संपर्क के अवसर या तो रुद्ध थे या थे तो बहुत कम। सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक और निजी-ये चार तरह की सेंसरशिप उन पर हावी थी। ऐसे में वे या तो पुरुषों के पैटर्न पर समस्या-पूर्ति कर रही थीं जिनमें बूंदी की चंद्रकला बाई, तोरनदेवी सुकुल, रमादेवी, बुंदेलाबाला की रचनाओं को देखा जा सकता है, या श्रृंगार और नीतिपरक कविताओं की तर्ज पर लिखने वाली साईं, छत्रकुंवरी बाई जो कृष्ण प्रेम की अभिव्यक्ति कर रही थीं लेकिन ये किसी भी विषय पर लिखें उनका लिखना अपने आप में चली आ रही सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप है गृहस्थी और दैनंदिन जीवन-चर्या में आकंठ डूबकर भी आत्माभिव्यक्ति के लिए व्याकुल सरस्वती देवी लिखती हैं-

*‘जब लग में मैकेर ही लिखत पढ़त रहिनित
अब घर पर परबस परी रहिन हिंसक तिसुचित॥
गृह कारज व्यवहार बहु परे संभार न मोहिं
लिखत पढ़न इक संगही यह सब कैसे होहि॥
समाचार के पत्रजे आवत हैं मम पास
तिनके देखन के लिए मिलत न मोहिं सुपासा॥’*

स्त्रियां किस तरह चुपचाप तत्कालीन राजनीतिक परिवर्तनों को सुन-गुन रही थीं, इसके प्रमाण स्वरूप रानी गुणवती को देखा जा सकता है, ये वही रानी गुणवती थीं जिनकी लिखी तीन पुस्तकों की चर्चा श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'राजमाता दियरा जीवन चरित्र' में की थी। सूपशास्त्र, वनिता बुद्धि विलास और भगिनी मिलन की रचना करने वाली गुणवती ने 11 जून 1922 को कस्तूरबा गांधी को लिखे एक पत्र में यह छंद लिखा 'सिंधु तीर एक टिटहरी, तेहिको पहुंची पीर सो प्रन ठानी अगम अति, विचलतन मन धीर, तेहि प्रन राखन के लिए अड़ गए मुनि बीर, परम पिता को सुमिरि कै सोखेऊ जलधि गंभीर।' इस छंद से रानी गुणवती के काव्य कौशल के साथ-साथ उनकी राजनैतिक सोच और पकड़ परिलक्षित होती है।

इस तरह प्रतिरोध के स्वर हमें पूरे नवजागरण के दौरान सुनाई देते हैं, लेकिन उनको सुनने और देखने में नजरिए का भेद होने से कवयित्रियां, पुरुष रचनाकारों जैसी मेधावी नहीं जान पड़तीं। जिस तरह की अमूर्त भाषा का प्रयोग ये स्त्रियां करती हैं उसका विश्लेषण विशिष्ट संवेदना की मांग करता है। इसे महादेवी की कविता के माध्यम से भली-भांति समझा जा सकता है :

*शलभ में शाप मयवर हूं!
किसी का दीप निष्ठुर हूं!
ताज है जलती शिखा
चिनगारियां श्रृंगारमाला;
ज्वाल अक्षय कोष सी*

अंगार मेरी रंगशाला;

नाश में जीवित किसी की साध सुंदर हूं!

नंददुलारे वाजपेयी ने इसकी व्याख्या कवयित्री के आध्यात्मिक उत्थान के लिए व्याकुल आत्मा के संदर्भ में की है जबकि इसे निजी अनुभूतियों की अमूर्त अभिव्यक्ति के तौर पर समझा जाना जरूरी है। ऐसा समय और समाज जहां स्त्री को नितांत निजी कोना उपलब्ध नहीं वहां उसकी चुप्पी के भी मायने हैं और मित कथन के भी। स्त्रियों के लिखे हुए ये 'टेक्स्ट' हमें चेतावनी देते हैं कि मौन और मित कथन का अर्थ रिक्ति नहीं है, जो अपनी बात को कहने के लिए प्रकृति और आत्मा-परमात्मा के रूपक का सहारा ले रही है वह इसलिए नहीं कि ईशभक्ति में मुक्तिवाला उसका मन सांसारिक रह ही नहीं गया है, या उसके पास कहने को और कुछ नहीं है। इसकी ज्यादा संभावना है कि उसके पास कहने को इतना ज्यादा है कि योग्य श्रोता (लैंगिक विभेद से मुक्त मस्तिष्क वाला श्रोता) मिलना मुश्किल है। ये हमारे ज्ञान और संवेदना की सीमा है जो हमें उस की चुप्पी के पीछे छिपे अर्थ-संदर्भों को खोलने नहीं देती। कुछेक चुने हुए विषयों पर ही लिखना, लौकिक प्रेम की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के लिए भक्ति, अध्यात्म और राष्ट्र प्रेम का सहारा लेना ऐसे ही सीमाबद्ध आलोचकों को ध्यान में रखकर की गयी 'सेल्फ सेंसरशिप' है। अमृतराय ने महादेवी पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- 'महादेवी के काव्य को मूलतः आत्मकेंद्रित, आत्मलीन कहना ठीक है; अपनी ही पीड़ा के वृत्त में उसकी परिसमाप्ति है। संसार की पीड़ा का स्वतः उसके लिए अधिक मूल्य नहीं है, मूल्य यदि है तो कवि की पीड़ा के रंग को गहराई देने वाले उपादान के रूप में।'

स्त्री मात्र को ही भावना और अश्रु से जोड़कर उसे कम बौद्धिक या अबौद्धिक मानने में, परंपरा से सुविधा रही है। महादेवी समेत अधिकांश कवयित्रियों को भावना और संवेदना की कवयित्रियां कहा गया है। स्त्रियां भी बड़ी ही विनम्रता से स्वयं को निचले दर्जे का रचनाकार स्वीकारती रही हैं। इसे अपने लेखकीय अस्तित्व को बचाए रखने की रणनीति के रूप में देखा जाना चाहिए। मुक्तिबोध ने सुभद्रा कुमारी चौहान के संदर्भ में उनकी बौद्धिकता को रेखांकित करते हुए लिखा है- 'सुभद्राजी की भावुकता कोरी भावुकता नहीं है, बाह्य जीवन पर संवेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाएं हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में भाव मानव-संबंध से, मानव-संबंध विशेष परिस्थिति से, विशेष परिस्थिति सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति से, एक अटूट संबंध-शृंखला में बंधी हुई है। भाव के सारे संदर्भों का निर्वाह उनके काव्य में हो जाता है। इससे उनकी वास्तविक भाव-सम्पन्नता का, संवेदनशीलता का, चित्र हमारे सामने खिंच जाता है।' (सुभद्राजी की सफलता का रहस्य-मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, राजकमल प्रकाशन)

स्त्रियों के लिखे हुए को भावुकता का उच्छलन कहकर उन्हें द्वितीय श्रेणी की रचनाकार ही माना गया, सुभद्रा कुमारी चौहान और महादेवी वर्मा की अनेक कविताएं, भावुक कविताओं की पुनर्व्याख्या करने के लिए हमें विवश करती हैं। कई स्थानों पर भावुकता का इस्तेमाल वे एक स्ट्रेटजी के रूप में करती हैं। मसलन सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता को लें-

बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा

अब रुखा व्यवहार न हो

अजी, बोल तो लिया करो तुम

चाहे मुझ पर प्यार न हो ।
 जरा-जरा सी बातों पर
 मत रूठो मेरे अभिमानी
 लो, प्रसन्न हो जाओ, गलती
 मैंने अपनी ही मानी ।
 मैं भूलों की भरी पिटारी
 और दया के तुम आगार
 सदा दिखाई दो तुम हंसते
 चाहे मुझसे करो न प्यार ।

ध्यान देने की बात है कि परिवार के अनुशासन से राष्ट्र सेवा के नाम पर मुक्ति-भले वह कुछ ही समय के लिए हो, इन कवयित्रियों के लिए कितना महत्त्व रखती है। कलम पकड़ना उसने सीख लिया है, कवयित्री के रूप में वह स्थापित भी हो रही है लेकिन जहां गृहस्थी और पति की बात आती है, वह किसी से मुठभेड़ करने के पक्ष में नहीं है। झुककर, विनम्रता से स्वयं को भूलों भरी पिटारी बताते हुए समझौते के पक्ष में है, ज्यों वह किसी रूठे बच्चे को मना रही हो। भावुकता और विनम्रता यहां पर प्रतिरोध के औजार के रूप में समझे जाने चाहिए। जिस स्त्री के भावुक पद्य को पढ़कर हम बारंबार द्रवित हो उठते हैं, उसका मौन और अश्रु हमें रुला-रुला जाते हैं, दरअसल यह पितृसत्ता और तयशुदा व्यवस्था के भीतर अपनी निज की पाई हुई स्वाधीनता की रक्षा करने की बौद्धिकरण नीति है। यदि हम इस भावुक साहित्य की तरफ गौर फरमाएं तो इन कवयित्रियों का रुदन, करुणा ये सब हमें भावुक पाठक बनाती है और हमारा ध्यान हमारे बहते हुए अश्रुओं पर चला जाता है और यहीं पर रचनाकार सफल हो जाती है। सवाल यह है कि क्या इस भावुक कविता को हम एक साहित्यिक विधा (genere) के रूप में देख सकते हैं जो प्रत्येक युग के साहित्य में अनिवार्यतः विद्यमान है जिसे कभी भारतेंदु की कविता में सुना जा सकता है -

‘कहां करुणानिधि केशव सोये, जागतने कनजदपि बहुविधि भारतवासी रोए।’

जिसमें निजी मुक्ति की कामना का उदात्तीकरण करके उसे राष्ट्र मुक्ति से जोड़ दिया गया, इसी तरह महादेवी, जहां वे कहती हैं -कीरका प्रिय आज पिंजर खोल दो-जिनकी निजी मुक्ति की आकांक्षा राष्ट्र मुक्ति और उससे भी आगे स्त्री मात्र की मुक्ति से जुड़ जाती है। भावुकता के इस उदात्तीकरण को क्या हम बतौर साहित्यिक मूल्य देख सकते हैं ? अब तक के सौंदर्य शास्त्रीय चिंतन के जो प्रतिमान रहे हैं उनमें स्त्री को तुच्छ मानवी के रूप में चित्रित किया गया या उसमें देवत्व के सभी काल्पनिक गुणों की प्रतिष्ठा कर दी गयी है। सामाजिक धरातल पर उसे तुच्छ समझने का भाव ही प्रमुख है, जिसमें यह निहित है कि स्त्री का लिखना हाशिए का लेखन है, उसके लिखे का अर्थ ही है कि उसमें घरेलू अर्थ-छवियां और दैनंदिन के खटराग के वर्णन प्रमुख होंगे, जिसे मुख्यधारा के स्तर तक पहुंचने के लिए अभी लंबी कवायद की जरूरत होगी। उसकी कविता में गलदश्रु भावुकता होगी, यदि वह श्रेष्ठ रचना लिख भी ले तो उसके पुरुष प्रेरणास्रोत दूँढे जाएंगे। शायद इसीलिए उस पर हमेशा आदर्श भारतीय नारी बनने का दबाव तारी रहता है, सुभद्रा कुमारी चौहान लिखती हैं-

पूजा और पुजा पाप्रभुवर,
इसी पुजारिन को समझो;
दान-दक्षिणा और निछावर,
इसी भिखारिन को समझो।

अकादमिक दृष्टि से भावुकता को देखना बहुत दूर तक सही नहीं हो सकता, इसके बावजूद नवजागरण की स्त्री कविता और आज की स्त्री कविता को अंतर्ग्रथित करने का काम यह भावुकता ही करती है। Suzanne Clark ने sentimental modernism शीर्षक पुस्तक में भावुकता और आधुनिकता का पारस्परिक संबंध विश्लेषित किया है, उनका कहना है कि- 'स्त्रीवाद को एक उत्तर आधुनिक पहचान की आवश्यकता है' रचनाकार भावुकता को एक रणनीति के तौर पर लेती हैं, इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी की भावुक रचनाकारों और बीसवीं-इक्कीसवीं सदी की आधुनिक स्त्रियों में आपस में एक गहरा संबंध है। ये दोनों ही लिखकर अपने-आपको विविध विषयों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं, लिंग और जेंडर के परे अपने-आपको स्वतंत्र एजेंसी के रूप में पहचनवाने की कोशिश करती हैं। उन्नीसवीं सदी और इस सदी की रचनाकारों को 'नैतिक ऊर्जा' के संदर्भ में समान धरातल पर विश्लेषित किया जा सकता है। इस नैतिक ऊर्जा के कारण ही पाठक को सीधे-सीधे संबोधित करने का साहस आता है, जो भक्तिकाल से लेकर नवजागरण की कविताओं में दीखता है। दृष्टिकोण को बदलकर इतिहास की बहुत सारी दरारें पाटी जा सकती हैं।

यह तय है कि शोध और आलोचना की भी अपनी सीमाएं होती हैं और यह बात रामविलास शर्मा जैसे आलोचकों पर भी लागू होती है जिन्होंने पूरे साहित्येतिहास में एक भी स्त्री रचनाकार को उल्लेखनीय नहीं माना, जबकि भक्ति और रीतिकाल में हमें स्त्रियों की पूरी परंपरा मिलती है जो रचनारत थीं। लेकिन क्या कारण है कि बरसों तक मीरां, सहजोबाई और ताज सरीखी दो-चार के अलावा इतिहास की किताबों में स्त्रियों का जिक्र नहीं किया गया। जिन स्त्रियों ने लिखा भी वे अकसर दूसरों के नाम से या छद्म नामों से छपीं। क्या हम इसके मनोसामाजिक कारणों को बतौर पाठक और आलोचक देख पाने में सक्षम होते हैं। हर युग की आवश्यकतानुसार इतिहास भी पुनर्व्याख्या की मांग करता है और इतिहास के पुनर्नवीकरण की समस्या दरअसल आलोचना के प्रतिमानों के पुनर्नवीकरण की समस्या है तो ऐसे में नवजागरण ही नहीं प्रत्येक दौर की स्त्री रचनाशीलता की पुनर्व्याख्या होनी चाहिए। समाज और सत्ता से स्त्री के बदलते संबंध, उसके लेखन के भीतर छिपी हुई दुविधाएं, जो दरअसल उसकी ईमानदारी का परिचय देती हैं, सर्वोच्च सत्ता को लौकिक रूप में पहचानने की कोशिश, अपने नाम की जगह 'अबला पति प्राणा' जैसे पदों का प्रयोग, वर्तमान संदर्भों में विवेचन करके ही स्त्री साहित्येतिहास की मुकम्मल समझ विकसित की जा सकती है। रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल के संदर्भ में कहा था कि इसमें 'मौलिकता का अभाव' है। नवजागरण के दौर में कई आंदोलनों के सामने आने से मौलिकता एक आलोचनात्मक पद के रूप में विकसित हुई। इतिहास को देखने और इतिहास में शामिल होने योग्य विषयों की सार वस्तु बदली। हमने मौलिकता की सामाजिक भूमिका को देखना शुरू किया, साथ ही समाज को एक क्रिटिकल आर्गुमेंट के रूप में देखने की कोशिश भी। भक्ति काल की तरह इस दौर के रचनाकारों में भी लोक चिंता अपनी पूरी अकादमिक ईमानदारी के साथ दिखाई पड़ती है, इस लोक-चिंता के स्वरूप को आर्गुमेंट

के रूप में देखे जाने की जरूरत है। आज की आलोचना इतिहास का संदर्भ (रेफरेंस) तो देती है लेकिन आज के लिए उसे 'प्रसंग' के रूप में इस्तेमाल नहीं करती। इतिहास आज कितने स्तरों पर संघर्ष करता है, उससे प्रसंग का निर्माण होता है (नित्यानंद तिवारी) स्त्रियों के लिखे हुए को इतिहास से, अपने मूल्यांकन के लिए किन-किन स्तरों पर जूझना-टकराना पड़ता है, कैसे वे लिखकर प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती हैं, इससे प्रसंग पैदा होता है। आज के युग का इतिहास जो एजेंडा देता है- रचनाकार उससे टकराकर ही प्रसंग का निर्माण कर सकता है। इतिहास ही नहीं इतिहास लेखन की पूरी परंपरा से टकराती ये स्त्रियां अपने लिखे हुए के पुनर्विश्लेषण की मांग करती हैं।



'बहुवचन' निकट भविष्य में एक संस्मरण विशेषांक प्रकाशित करने जा रहा है। संस्मरण विशेषकर साहित्य, रंगमंच, कला, सिनेमा, संगीत एवं खेल, राजनीति आदि क्षेत्रों से जुड़े सुप्रसिद्ध व्यक्तियों से संबंधित होंगे तो विशेषांक को बहुआयामी बनाने में मदद मिल सकेगी। ऐसे शहर जहां सांस्कृतिक स्मृतियां बिखरी पड़ी हों और वे आज भी आपकी स्मृति का हिस्सा हों, उन पर लिखे यादगार संस्मरण भी आमंत्रित हैं। सभी मौलिक और अप्रकाशित संस्मरण पांच हजार शब्दों की सीमा में रहें तो हमें सुविधा होगी। आप अपने संस्मरण डाक से या ई-मेल के जरिए प्रेषित कर सकते हैं।

अपनी रचनाएं इस पते पर भेजें-

संपादक 'बहुवचन'

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

ई-मेल : bahuvaachan.wardha@gmail.com

मोबाइल- 7888048765

विडंबना का विद्रूप : हरिशंकर परसाई की कहानियां

पल्लव

प्रेमचंद हिंदी के कथा सम्राट हैं तो हरिशंकर परसाई आजाद भारत के सबसे बड़े गद्यकार। निबंध, कहानी, कॉलम और यहां तक कि पाठकों के छोटे-बड़े सवालियों के जवाब देते परसाई जिस गद्य की रचना करते हैं वह जड़ताभंजक और क्रांतिदर्शी है। यह वह गद्य है जिसमें भारत के एक सामान्य नागरिक के जीवन से जुड़े तमाम पहलुओं का विवेचन है- दर्शन है। जाहिर है जो रचनाकार प्रतिज्ञापूर्वक जनपक्षधर्मी है उसका लक्ष्य मनुष्य जीवन को वुंफद करने वाली प्रतिगामी शक्तियों से मुठभेड़ होगा। परसाई अपनी रचनाओं में यही करते हैं और ऐसा करते हुए वे न कला के रूप की परवाह करते हैं और न चली आ रही सांस्कृतिक मिथकीय चेतना की। उनकी कहानियां कहानियां ही हैं या निबंध या वे मामूली लोगों के रोजनामचे हैं- कहना मुश्किल है। यही कारण है कि नई कहानी के दौर में लिखी जाने पर भी उनकी कहानियां नई कहानी के दायरे में नहीं आतीं। स्वयं परसाई को भी नई कहानी की लघुत्रयी- मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव या बृहत्त्रयी जिसमें अमरकान्त, शेखर जोशी, भीष्म साहनी के साथ मन्नू भंडारी को भी सम्मिलित कर लिया जाता है- में शामिल नहीं किया जाता।

फिर भी कोई तो वजह होगी कि प्रेमचंद के 'हामिद' और 'बूढ़ी काकी' की तरह परसाई के भोलाराम और इंस्पेक्टर मातादीन पाठकों के भीतर स्थायी निवास बनाए हुए हैं। क्या परसाई की व्यंग्य शैली इसका कारण हो सकती है? नहीं। व्यंग्य का आश्रय लेकर किस बड़े कथाकार ने कहानियां नहीं लिखीं? यशपाल से लगाकर ज्ञानरंजन तक याद किए जा सकते हैं। भोलाराम और इंस्पेक्टर मातादीन का पाठकों के मन में घर बना लेने का कारण परसाई के व्यंग्य में निहित करुणा की अजस्र धारा है जो पाठक को इन चरित्रों से अभिन्न करती है। स्वतंत्र भारत में भला कौन नागरिक बचा है जो दफ्तर के बाबुओं से सताया न गया हो? कौन है जिसका काम पुलिस थाने से पड़ा हो और केवल इसी बात से उसे संताप न हुआ हो? परसाई का जादू यह है कि वे बेहद मामूली जीवन स्थितियों को वृहत्तर सच्चाइयों के सापेक्ष रखकर पाठक को लाजवाब कर देते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें बहुत अधिक वर्णन, पात्रों और घटनाओं की भी जरूरत नहीं होती, वे बहुत थोड़े में सारी बात कह देने की कला जानते हैं।

उनकी कुछ महत्वपूर्ण कहानियों की चर्चा इस आलेख का उद्देश्य है। एक अतिसक्रिय रचनाकार के विशाल सृजन संसार में कुछ कहानियों की सीमा कठिन और चुनौतीपूर्ण है। फिर वह

रचनाकार भी ऐसा है कि जिनके पाठक असंख्य हैं। प्रशंसक और आलोचक भी। प्रयास यह किया गया है कि उनके कहानी लेखन के सभी रंग इस आलेख में दिखाई पड़ें।

‘भोलाराम का जीव’ वह कहानी है जो हिंदी पाठकों को अत्यंत प्रिय है। कहानी की बुनावट ऐसी है कि परसाई सीधे-सीधे साफ-साफ सब कुछ कह रहे हैं, कोई रहस्य-गोपन नहीं और पाठक को लगता है इससे ज्यादा सही बात हो नहीं सकती। मामला यह है कि यमराज के दफ्तर में मृतात्माओं का हिसाब रख रहे चित्रगुप्त परेशान हैं कि भोलाराम के जीव ने पांच दिन पूर्व देह त्यागी और यमदूत के साथ रवाना भी हुआ, पर अभी तक दोनों लापता हैं। आखिर मामला सुलझाने स्वयं नारद धरती पर जाते हैं और अंततः भोलाराम का जीव उन्हें अपनी पेंशन फाइल से चिपका मिलता है। उसका कहना है- ‘मैं तो पेंशन की दरखास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरखास्तें छोड़कर नहीं जा सकता।’ कहानी के बीच-बीच में ऐसी बातें आती हैं जो भारतीय जीवन के दैनंदिन भ्रष्टाचार और विडंबनापूर्ण चलन पर टिप्पणियां करती हैं। कहानी के प्रारंभ में चित्रगुप्त कहते हैं- ‘आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवे वाले उड़ा लेते हैं। होजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डिब्बे के डिब्बे रास्ते में कट जाते हैं। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उठाकर बंद कर देते हैं।’ यह टिप्पणी क्या सतह तक फैल चुके नैतिक पतन का चित्र नहीं है? विडंबना यह है कि आजादी के लिए हमारे देश ने जो लड़ाई लड़ी थी, वह केवल दासता के विरुद्ध ही नहीं थी अपितु उस राष्ट्रीय आंदोलन में सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक मूल्यों की स्थापना पर भी जबरदस्त बल था।

वहीं जब नारद भोलाराम की पत्नी से मृत्यु का कारण पूछते हैं तो वह कहती है- ‘क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पांच साल हो गए, पेंशन पर बैठे। पर पेंशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पंद्रह दिन में एक दरखास्त देते थे, पर वहां से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पांच सालों में सब गहने बेचकर हम लोग खा गए। फिर बरतन बिके। अब कुछ नहीं बचा था, फांके होने लगे थे। चिंता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।’ तो चाहे प्रेमचंद हों या फकीर मोहन सेनापति, रेणु हों या तकषी शिवशंकर पिल्लै, गरीबी और भूख ही सबके लिए बड़ी बीमारी है जिनसे भारत की जनता को लड़ना है। परसाई इस बीमारी को नजदीक से पहचानते हैं क्योंकि वे ही थे जो यह कह सकते थे- ‘मैं एक समाज का अंग हूँ। लेखक और मजदूर की राशन की दुकान एक ही है। इसलिए मैं प्रतिबद्ध हूँ, उन लोगों से जो मेरी ही राशन की दुकान से अन्न लेते हैं। ...मैं लेखक के नाते सारे समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए अपना दायित्व मानता हूँ। इस जनसामान्य के संघर्ष में मैं साथ हूँ, इसीलिए प्रतिबद्ध हूँ।’ यह प्रतिबद्धता भूख, गरीबी और अन्याय से लड़ रहे मामूली लोगों के साथ खड़ा रहने वाला लेखक ही दर्शा सकता था।

अकारण नहीं है कि परसाई की कहानियों में शिल्प की वह पच्चीकारी नहीं दिखाई पड़ती जो नई कहानी के अन्य पुरोधा लेखकों के यहां थी। इसका कारण उनकी प्रतिबद्धता में ही है। यह प्रतिबद्धता अन्याय और ढोंग को उघाड़ती है और जब समूची लड़ाई ही गोपन के विरुद्ध हो तो वह हमारे मिथकों को कैसे छोड़ सकती है? परसाई ने भारतीय वाङ्मय के तमाम धार्मिक-सांस्कृतिक

मिथक चरित्रों पर लिखा और उन्हें नई पहचान दी। उनकी कहानी 'सुदामा के चावल' इसका उदाहरण है। सुदामा की पारंपरिक कथा में दो मुट्ठी चावल के बदले कृष्ण द्वारा दो लोकों के दान का उल्लेख मिलता है। परसाई इसे उलट देते हैं। यहां सुदामा की 'डायरी' से परसाई वह प्रसंग निकालकर पाठकों के समक्ष रख देते हैं। इस प्रसंग के निहितार्थ गहरे हैं। वे यहां राजसत्ता और सामान्य मनुष्य के द्वंद्व को खूब अच्छी तरह दिखाते हैं। दो-तीन उदाहरण देखने योग्य हैं। सुदामा कृष्ण के महल के कर्मचारी से 'भाई' कहकर प्रवेश करने का ढंग पूछ रहा है तब कर्मचारी क्या कहता है- 'बहुत भोले हो। आगे किसी राज-कर्मचारी को भाई मत कहना। वह मनुष्य होने में अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। उसे 'देवता' कहना चाहिए।' फिर आगे जब प्रहरी सुदामा से 'खुरचन' मांगते हैं तब सुदामा का कथन देखिए- 'बंधु, मैं तो ग्रामवासी हूं। शासन हमारे पास केवल कर वसूल करने पहुंचता है। भला राजधानी की रीति-नीति मैं वैफसे जान सकता हूं?' राजसत्ता और सामान्य नागरिक के भेद को हमसे आसान भाषा-मुहावरे में भला कब व्याख्यायित किया गया था? ध्यान देने की बात है, यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की कथा है, पात्र भले पौराणिक हों। इसी संदर्भ में वह बात भी याद करें जब कृष्ण ने सुदामा से कहा कि वे अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके हैं कि उनके लिए सुदामा के गमछे में चावल हैं। सुदामा का पक्ष है- 'मेरा मन हुआ कि कह दूं कि हे मेरे राजमित्र, जिस दृष्टि से तुम मित्रों की पत्नियों को पति के गमछे में चावल बांधते देखते रहते हो, उससे लोगों की गरीबी और भुखमरी क्यों नहीं देखते?' यह है मिथक का जनतांत्रिकीकरण। कहना न होगा कि इसमें विचारधारा की क्या भूमिका है। यह विचारधारा का ही कमाल है कि परसाई कृष्ण के चावल खाने का कैसा अद्भुत चित्र खींचते हैं- 'कृष्ण चावल खाने के लिए बहुत उत्सुक था। उसका आग्रह प्रेम के कारण कम था, इस कारण अधिक था कि आसपास चित्रकार लोग चावल खाते हुए महाराज का चित्र खींचने के लिए तैयार खड़े थे। चित्र खींचकर उसके नीचे लिखा जाता, 'दीनबंधु एक दीन के चावल खाते हुए।' अभिजनवादी मनोवृत्ति का मुकाबला ऐसे उपहास से ही किया जा सकता है। परसाई इस काम में निडर हैं और उनकी बेलाग भाषा आगे बढ़कर मखौल उड़ती है।

देखना चाहिए कि व्यंग्य की आड़ में परसाई की कहानियां स्त्री के प्रति क्या निगाह रखती हैं। जिस हिंदी संस्कृति में हँसी-मजाक का सबसे सुविधाजनक विषय स्त्रियां हों वहां तो व्यंग्यकार के लिए यह चुनौती ही है कि स्त्री के साथ उसका ट्रीटमेंट औचित्यपूर्ण हो। परसाई की लंबी कहानी है- 'तट की खोज', इस कहानी में वे शीला, मनोहर और महेन्द्रनाथ के चरित्रों के मार्फत असल में स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर विचार करते हैं। कहानी के प्रारंभ में वे लिखते हैं- 'विद्या प्राप्ति के लिए सौ में से दस ही पढ़ती हैं शेष इसलिए पढ़ती हैं कि पढ़ना उनकी मजबूरी है। शिक्षा उस पॉलिश की तरह प्रयुक्त होती है, जो चीज को चमकदार बनाता है तथा ग्राहक को आकर्षित करता है। जब तक पिता कोई वर तलाश न कर ले, तब तक वे बेचारी कॉलेज के 'वेटिंग रूम' में बैठी-बैठी इंतजार करती रहती हैं।' फिर यह भी कि शीला की मां का निधन हो चुका है- 'बिना मां की जवान लड़की ऐसी फसल होती है जिसका रखवाला नहीं है और जिसे वासना के उजाड़-पशु चरने को स्वतंत्र हैं।' कहानी इस तेजस्वी युवती शीला की है जिसे कॉलेज प्रोफेसर महेन्द्रनाथ का प्रणय निवेदन मिलता है तभी एक मामूली दुर्घटना में महेन्द्रनाथ की कायरता का उद्घाटन होता है। शीला के चरित्र पर मुहल्ले के लोगों द्वारा सवाल उठाने के साथ ही शीला के पिता सदमे से चल बसते हैं। अकेली शीला

अपने जीवन का आश्रय महेन्द्रनाथ में खोजती है लेकिन महेन्द्रनाथ मुंह फेर लेता है। शीला कहती है- 'मेरी अप्रतिष्ठा मेरी मजबूरी थी, उनकी प्रतिष्ठा उनकी मजबूरी है।' वह महेन्द्रनाथ को फटकार कर चली आती है। उधर उसकी सहेली विमला और उसका भाई मनोहर शीला को सहारा देते हैं लेकिन मनोहर के परिवार में भी शीला को लेकर हिचक है लेकिन यह शीला ही है जो कह सकती है- 'स्त्री होना बहुत सी असमर्थताओं को भुगतना है। अबला कहा है तो उसे अबला बनाकर ही छोड़ेंगे। जो अबला बनने से इनकार करेगी, उसे कुलटा बनाएंगे।' अंत में शीला नए जीवन की खोज में जाने का निर्णय लेती है- 'एक लहर मझधार में ले जाकर डुबा देती है तो दूसरी उछालकर किनारे लगा देती है। मैं दूसरी लहर में जा रही हूं। मैं तट की खोज में हूं।' यह तेजस्वी युवती 'त्यागपत्र' की मृणाल से आगे है जो जीवन को नष्ट नहीं होने देना चाहती। ऐसा प्रगतिशील स्त्री चरित्र स्त्रीवादियों के यहां भी दुर्लभ है। स्त्रियों के संबंध में परसाई लगातार स्पष्ट और दो टूक हैं। उन्हें भावुक-गिजगिजेपन से लिथड़ी कमजोर अबलाएं नहीं, निर्णय लेतीं और साहस के साथ अपना रास्ता खोजने वाली स्त्रियां मिलती हैं। 'एक लड़की, पांच दीवाने' की वह गरीब परिवार की लड़की देखें तो मालूम होता है कि अपने चरित्रों की सृष्टि में परसाई कितने सावधान हैं। पांच प्रेमी भी अद्भुत हैं। अद्भुत इसलिए कि वे हमारे वाङ्मय में दीवानों की बनी-बनाई (या पिटी-पिटाई) छवि को भंजित करते हैं। क्या पीले दांत, गंदी चड्डी, मैल से काली पड़ी बनियान में जलेबियां छानता हलवाई भी दीवाना हो सकता है? क्यों नहीं। यह परसाई की दृष्टि है कि वे असामान्य नहीं बल्कि बेहद सामान्य लोगों की तलाश करते हैं। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था- 'व्यक्ति को रोटी चाहिए, कपड़े चाहिए, सेक्स चाहिए। साहित्यकार को मनुष्य मानना चाहिए पर रचना में साहित्यकार को व्यक्तिगत कुंठाओं से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष को लिखना चाहिए।' यह सच्ची प्रगतिशीलता है जहां लेखक आखिरी आदमी की संभावना को पहचानने का हौसला रखने को तैयार है। यदि लोलुपता से भरा गंदा हलवाई लड़की को घूर रहा है तो इसकी सामाजिक सचाई को समझे बिना उस कुंठित व्यक्ति को खलनायक मान लेना बचकानापन होगा। बहरहाल यह लड़की इन पांच दीवानों के बीच रहकर अपना जीवन मार्ग तलाश करने में सफल होती है। ऐसे ही याद आता है कि परसाई के यहां साधारण कामकाजी घरेलू स्त्रियां भी कम तेजस्वी नहीं। फिर से सुदामा की पत्नी को याद करें। वह सुदामा को पड़ोसिन से पाव भर चावल उधार लाकर देती है। 'वह जानती थी कि राजपुरुष बिना भेंट लिए किसी का कोई काम नहीं करते।' भोलाराम की पत्नी जिस तरह नारद को फटकारती है वह भी अविस्मरणीय प्रसंग है।

परसाई ने फैंटेसी के शिल्प का भी अपनी कहानियों में उपयोग किया है। 'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। हमारी पुलिस व्यवस्था के नितान्त भ्रष्ट आचरण और उसके जनविरोधी, विज्ञान विरोधी चरित्र को यह कहानी बहुत अच्छी तरह उद्घाटित करती है। इंस्पेक्टर मातादीन को भारत की तरफ से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अंतर्गत चांद पर भेजा गया था। मातादीन धरती पर रहकर जो काम कर रहे थे ठीक वही काम वे चांद पर भी करते हैं। क्या उनके धरती वाले कामों से ही कहानी नहीं बन सकती थी? नहीं, क्योंकि उनके धरती वाले काम हमें इस कदर स्वीकार्य हो चुके हैं कि उनसे कोई शिकायत ही नहीं होती। भाई! पुलिस वाला बेईमान न होगा तो भला कौन होगा? भगवान पुलिस से बचाए। ये सूक्तियां इतनी प्रामाणिक हो गई हैं कि इन पर

कोई सवाल ही नहीं हो सकता। ऐसा भयावह अनुवृत्त (या प्रतिफलन?) पुलिस व्यवस्था ने अर्जित कर लिया है। बहरहाल इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर जाकर सबसे पहले पुलिसकर्मियों की तनखाहें घटाते हैं ताकि वे 'मुस्तैद' होकर काम करें। 'ऊपर से आदेश है' हमारी व्यवस्था के इस अमर आप्त वाक्य का ऐसा अद्भुत प्रयोग परसाई कहानी में करते हैं कि वह तर्कातीत हो जाता है। सारी कार्यप्रणाली बदल देने के बाद अंततः भारत के 'रामराज' में भेज दिया जाता है। कहना न होगा कि यह बदलाव कितना जन-प्रतिफल था।

अपने अधिकारों के लिए लड़ना जागरूक होने का लक्षण है लेकिन इसके लिए हिंसा का सहारा लेना क्या उचित है? परसाई की लोकप्रिय कहानी 'चूहा और मैं' के साथ यह सवाल उठ खड़ा होता है। खुद परसाई ने कहा है- 'यह अजब बात है बल्कि षड्यंत्र है कि जब शोषित लोग लड़ने लगते हैं तब ही यह शोर हो जाता है कि हिंसा हो रही है। शोषक वर्ग की हिंसा सिर्फ लॉ एंड ऑर्डर प्रॉब्लम कहलाती है। शासन की हिंसा संवैधानिक बन जाती है।' कहानी में चूहे का सिर पर चढ़कर भोजन मांगना उसके अधिकार-चेता होने का प्रमाण है और कथावाचक का यह कहना- 'आदमी क्या चूहे से भी बदतर हो गया है? चूहा तो अपनी रोटी के हक के लिए मेरे सिर पर चढ़ जाता है। मेरी नींद हराम कर देता है। इस देश का आदमी कब चूहे की तरह करेगा?' ध्यान से देखा जाए तो सत्ता के लिए सामान्य नागरिक की हैसियत चूहे से अधिक नहीं है और परसाई इसके बावजूद बार-बार सत्ता के समक्ष इसी सामान्य नागरिक की हैसियत को स्थापित करने में जुटे हैं। यहां उनकी चिंता लोकतंत्र को बचाने की भी है। यह सहज समझने की बात है कि लगातार कुचला गया मामूली आदमी भी अंततः प्रतिरोध में हथियार उठा लेगा, हिंसा का सहारा लेगा और तब निश्चय ही लोकतंत्र को धक्का लगेगा।

प्रकृति का क्रोध मनुष्य जीवन पर भारी पड़ता है चाहे वह बाढ़, तूफान, भूकंप या सूखे के किसी भी रूप में क्यों न हो। फिर इस क्रोध में व्यवस्था अपने मुनाफे के लिए शामिल हो जाए तो इसे कितनी बड़ी विडंबना कहेंगे। परसाई इस विडंबना को विद्रूप के मार्फत उघाड़ते हैं। 'अकाल उत्सव' का पहला वाक्य है- 'दरारों वाली सपाट सूखी भूमि नपुंसक पति की संतानेच्छु पत्नी की तरह बेकल नंगी पड़ी है।' फिर आगे है- 'पास ही एक गाय अकाल के समाचार वाले अखबार को खाकर पेट भर रही है। कोई 'सर्वे' वाला अफसर छोड़ गया होगा। आदमी इस मामले में गाय-बैल से भी गया-बीता है। गाय तो इस अखबार को भी खा लेती है, मगर आदमी उस अखबार को भी नहीं खा सकता जिसमें छपा है कि अमरीका से अनाज के जहाज चल चुके हैं।' इस अकाल को लोग उत्सव की तरह मना रहे हैं जैसे स्वाधीनता दिवस और गणतंत्र दिवस मानते हैं। दिक्कत यह है कि ये उत्सव तो अपने आप आते हैं मगर अकाल के लिए बड़ी प्रार्थनाएं, बड़े अनुष्ठान करते हैं। ये कौन हैं जो इतना तप कर रहे हैं- जमाखोर, मुनाफाखोर, स्मगलर, इंजीनियर की पत्नी, तहसीलदारिन, नायबाइन, ओवरसियरन, विधायक-भार्या, मंत्री-प्रिया सब अनुष्ठान में लगे हैं कि अकाल हो। इस अकाल से कौन खुश नहीं है, कवि अकाल की स्तुति में गीत गा रहे हैं तो मंत्री स्वागत भाषण दे रहे हैं। इनके बीच ऐसे लोग भी हैं- 'हड्डी ही हड्डी। पता नहीं किस गोंद से इन हड्डियों को जोड़कर आदमी के पुतले बनाकर खड़े कर दिए गए हैं। यह जीवित रहने की इच्छा गोंद है। यह हड्डी जोड़ देती है।' आगे वे पूछते हैं- 'ये जीवित क्यों है?' उत्तर है- 'ये मरने की इच्छा को खाकर जीवित हैं।

मरने की इच्छा में पोषक तत्व होते हैं।' भारत की भूख-निर्धनता का ऐसा अकृत्रिम, गैर-रोमांटिक और निष्ठुर चित्र वही रचनाकार खींच सकता था जो इनकी दुर्दशा से घनघोर व्यथित हो। आगे वे लिखते हैं- 'अन्न ही ब्रह्म है, गुरु!' यह आकस्मिक नहीं हो सकता है कि हिंदी भाषा में इस निर्धन जनता के सबसे बड़े कवि नागार्जुन भी अन्न को ब्रह्म कहने वाली कविता लिखते हैं। हिंसा का संकेत इस कहानी में भी है जो परसाई की दूरदृष्टि का परिचायक ही है। आज देश में नक्सलवाद और अन्य चरमपंथी आंदोलनों का गहरा उत्स इस भूख, निर्धनता, शोषण और लूट में ही मिलता है।

'बैताल की छब्बीसवीं कथा' को कथा प्रविधि का एक ढंग मानना चाहिए जहां परसाई का व्यापक दृष्टिकोण प्रकट होता है। यह व्यापकता बेईमानी, भ्रष्टाचार, चापलूसी, ढोंग और पाखंड के विरुद्ध सर्वत्र है। चाहे वे राजनेता हों या कॉलेज के अध्यापक, परसाई किसी को नहीं बख्शते। वे भलीभांति जानते हैं कि मामूली और निर्धन लोग भी दुर्गुणों के मारे हैं और इन्हें ढककर-छिपाकर तो कतई स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता। 'आमरण अनशन' में व्यापारी और छोटे-बड़े राजनेताओं का पाखंड है। राजनीति के दलदल में धंसे एक धूर्त नेता का जो रूपक परसाई की कहानियों-निबंधों में 'भैया साहब' की शकल में निर्मित हुआ है वह स्थायी है। इन भैया साहब का भाषण तो देखिए- 'दोस्तो, आपका कर्तव्य यह है कि आप तुरंत एक शांति समिति बनाएं जो पहले हमें मालाएं पहनाए और फिर यहां घी के दीप जलवाकर अखंड 'रामधुन' का प्रबंध करे। शांति समिति का कर्तव्य है कि वह इस उपवास का प्रचार करे और साथ ही यह भी देखे कि हम तीनों अनशन के नियमों का पालन कर रहे हैं या नहीं। सबसे जरूरी काम यह है कि शांति समिति अभी हम में से हर एक से पूछ ले कि वह किसके हाथ से मुसम्मी का रस लेकर उपवास तोड़ेगा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं अभी तक लगभग 73 बार आमरण अनशन कर चुका हूं और कभी भी मैंने मुख्यमंत्री से नीचे के आदमी के हाथ से मुसम्मी का रस नहीं पिया।' हम भारतीयों की अजर अनुष्ठान आस्था पर परसाई व्यंग्य किए बिना रह ही नहीं सकते थे। 'अकाल उत्सव' में भी वे इस अनुष्ठान प्रेम की खबर लेते हैं। मनुष्य यदि रूढ़ियों से लड़ेगा नहीं तो रूढ़ियां अंततः उसी के अस्तित्व पर काबिज हो जाएंगी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला लेखक इन पर चोट करता है तो वह जनहित का काम करता है।

'वैष्णव की फिसलन' मिथकों का सहारा लेने वाली उनकी अत्यंत चर्चित और लोकप्रिय कहानी है जो मिथकों की आड़ में ढोंग कर रहे संप्रदाय वर्ग की खबर लेती है। 'वैष्णव की फिसलन' का प्रारंभ है- 'धर्म धंधे से जुड़ जाए, इसी को योग कहते हैं।' एक परम वैष्णव अत्यंत भक्ति भाव वाले हैं और करोड़पति हैं। जब उनके पास नंबर दो का बहुत पैसा हो गया तो समझ न आया कि क्या करें? वे प्रतिदिन दो घंटे विष्णु पूजा करते हैं। पूजा के बाद उनकी शुद्ध आत्मा से आवाज आती है- 'अधम! माया जोड़ी है तो माया का उपयोग भी सीख। तू एक बड़ा होटल खोल।' अब होटल है तो वहां नॉनवेज भी आएगा, शराब भी, कैबरे भी और अंततः 'मन बहलाने को कुछ'। चमत्कार यह है कि वैष्णव प्रत्येक सुविधा का इंतजाम करते हैं और इसके लिए प्रभु की आज्ञा लेना नहीं भूलते। आखिर सोमरस, रास और प्रकृति-पुरुष संयोग जैसी बातें तो हमारे वाङ्मय-पुराणों में भी हैं। अंत में परसाई लिखते हैं- 'अब वैष्णव का होटल खूब चलने लगा। शराब, गोश्त, कैबरे और औरत। वैष्णव धर्म बराबर निभ रहा है। इधर यह भी चल रहा है। वैष्णव ने धर्म को धंधे से खूब जोड़ा है।'।

ध्यान दीजिए, यह कोई एक उदाहरण नहीं है। आखिर क्यों पूंजीपति-मायावी धनाढ्य सबसे पहले हमारे धर्मस्थानों की ओर दृष्टि करते हैं? क्या वे जन-स्वभाव में रचे-बसे धार्मिक विश्वासों का दोहन नहीं करते जिनके अनुसार भगवान की भक्ति करने वाला व्यक्ति निश्चय ही भला है। परसाई इस पाखंड को खूब जानते हैं इसलिए इसे तोड़ना जरूरी समझते हैं और दरेरा देकर तोड़ते हैं। मजे की बात वैष्णव यह कहता है- 'चुपचाप इंतजाम कर दिया करो। जरा पुलिस से बचकर, पचीस फीसदी भगवान की भेंट ले लिया करो।' अर्थात् इस भ्रष्ट खेल में वैष्णव ने प्रभु को भी धकेल दिया। यह धर्म और अध्यात्म का पाखंड है जिसे समझना चाहिए और परसाई बगैर कटु हुए पाठक को वह समझ दे जाते हैं।

परसाई के गद्य की भाषा पर अलग से बात करना अनुचित है क्योंकि यहां भाषा, भाव, विचार और विचारधारा में कोई द्वैत नहीं है। जीवन अनुभवों से तपे समर्थ रचनाकार ही अपने पात्रों के मुख से ऐसे वाक्य कहलवा सकते हैं जो सूक्ति बन जाएं। परसाई में यह सामर्थ्य है। बारीक व्यंग्य करने में उनका कोई सानी नहीं। इंसपेक्टर मातादीन ही थे जो कह रहे थे- 'ये वैज्ञानिक केस का पूरा इन्वेस्टिगेशन नहीं करते। उन्होंने चांद का उजला हिस्सा देखा और कह दिया, वहां जीवन नहीं है। मैं चांद का अँधेरा हिस्सा देखकर आया हूं। वहां मनुष्य जाति है।' और तत्क्षण परसाई का बयान है- 'यह बात सही है क्योंकि अँधेरे-पक्ष के मातादीन माहिर माने जाते हैं।'



मुक्तिबोध की कविता का अंतर्द्वंद्व

एम. श्याम राव

‘यहां यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असंतोष रहा और है। मानसिक द्वंद्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूं कि जिस भी क्षेत्र में मैं हूं वह स्वयं अपूर्ण है और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलतः गुप्त अशांति मन के अंदर घर किए रहती है।... मेरी ये कविताएं अपना पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति है। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति में छिपा है।’¹

मुक्तिबोध में पथ ढूंढने की बेचैनी क्यों है? इसका उत्तर हमें उनकी ‘मुझे कदम-कदम पर’ शीर्षक छोटी कविता में मिल जाता है-

*‘मुझे कदम-कदम पर
चौराहे मिलते हैं/बाहें फैलाये/एक पैर रखता हूं/
कि सौ राहें फूटतीं/व मैं उन सब पर से गुजरना चाहता हूं।’²*

मुक्तिबोध की बेचैनी का कारण मूलतः पथ का मिलना नहीं है बेचैनी इस बात की है कि वे किस राह पर चलें और किसे छोड़ दें। उनकी बेचैनी का संदर्भ सामाजिक और राजनैतिक भी है। सामाजिक राजनैतिक संदर्भों के उठने का केंद्र लेखन है, इसे मुक्तिबोध बार-बार रेखांकित करते हैं। इसलिए उनकी बेचैनी लेखन-कर्म में से और उसके लिए उपजती है। लेखन-कर्म के लिए कवि अभिशप्त है, जो कवि के शब्दों में ‘अनिवार’ भी है। जीवन-जगत और आत्म के अनवरत द्वंद्व और संघर्ष के बीच से उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया गुजरती है। उनके पास दुविधा और भ्रम है। यह वैयक्तिक मनः स्थिति का द्वंद्व नहीं है। समाज चेतस संघर्षरत मन का द्वंद्व है। जार्ज लूकाच का कहना है कि- ‘Mental confusion is not always chaos. It may strengthen the maternal contradictions for the time being, but in the long run it will lead to their resolution.’³ यहां जार्ज लूकाच का कथन मुक्तिबोध की कविताओं के अंतर्द्वंद्व को समझने के लिए सार्थक सिद्ध होता है। तारसप्तक के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने जिस मानसिक द्वंद्व की बात उठायी है, उसमें जो आक्रोश और तनाव है वह अधूरी दीर्घ कविताओं की शाब्दिक देह तोड़कर बाहर निकलना चाहता है। इसका प्रमाण हमें उनकी ‘चकमक की चिनगारियां’ शीर्षक कविता में मिलता है- ‘मेरे सामने प्रश्न/क्या होगा कहां किस भांति/मेरे देश भारत में/पुरानी हाथ में से/किस तरह से आग भभकेगी/उड़ेगी किस तरह भक् से/हमारे वक्ष पर लेटी हुई/विकराल चट्टानें।’⁴ कहने की जरूरत नहीं

कि यह आग क्रांति की आग है और ये पंक्तियां क्रांति का आह्वान है। इस क्रांति के लिए जो-जो निमित्त मात्र उपयोगी है, उनका चित्रण मुक्तिबोध ने विस्तार से किया है।

रचना में रचनाकार अपनी भीतरी और बाहरी दुनिया के अर्थ और मूल्यों की खोज करता है। यह खोज ही रचना का गहरा आंतरिक कारण है। अपनी रचना के द्वारा रचनाकार जिंदगी की पुनर्रचना करके उसकी नश्वरता को खत्म कर देता है। रचना का क्षण अनुभव और अभिव्यक्ति के तादात्म्य का क्षण होता है और वही सार्थक क्षण भी होता है। मुक्तिबोध डायरी में जीवन के उत्कट अनुभव क्षण को कला का पहला क्षण बतलाते हैं और इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते मूलों से पृथक होकर एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेने को उसका दूसरा क्षण। 'मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने के लिए आवश्यक पहला जबरदस्त धक्का' होने के कारण पहले क्षण की महत्ता स्पष्ट है। जीवनानुभव के कलानुभव में बदलने की प्रक्रिया शुरू होते ही व्यक्तिगत अनुभव मानवीय अनुभव में बदलने लगता है, और अनुभव चित्र भावात्मक उद्देश्य से जुड़ने लगता है। फैंटेसी को मुक्तिबोध 'अनुभव की कन्या' कहते हैं और तीसरे क्षण के दौरान फैंटेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया के फल स्वरूप तैयार हुई रचना को इस 'फैंटेसी की पुत्री'। इस तरह मूल अनुभव से दुहरी दूरी के कारण रचना आत्मिक प्रयास होकर भी कोरा व्यक्तिगत प्रयास नहीं होती। तीसरे क्षण में भाषा से जुड़कर रचना अपने-आप सार्वजनीन और सामाजिक बन जाती है। शब्द रूप पाते-पाते कलानुभव में रूपांतरित जीवनानुभव फिर एक बार बदलता है। भाषा फैंटेसी को नष्ट करने की कोशिश करती है और फैंटेसी भाषा को। शब्द सामाजिक संपत्ति है। इसलिए यह शब्दानुभव भी। इस तरह मुक्तिबोध के मत से भी रचना का जन्म द्वंद्व तथा तनाव से ही होता है। द्वंद्व रचना-प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से निहित होता है और अपनी परिणतियों में काव्य अपने उपकरणों का समंजित रूप है। यहां डॉ. हरीश शर्मा का कथन ध्यान देने योग्य है कि- 'काव्य तथा सभी कलाएं जीवन की साधना के प्रतिफल है। इसके द्वारा कलाकार जीवन की सच्चाइयों से जूझता है उन्हें आत्मसात करता है और अपनी रचना के माध्यम से उन्हें नए रूप में गढ़कर दुनिया को देता है। देने से पूर्व रचनाकार के भीतर का आलोचक सक्रिय हो जाता है। रचनाकार के आलोचनात्मक विवेक पर ही रचना की अभिप्सित परिणति संभव है। कविता की शब्दमयी परिणति के पूर्व रचयिता रचना के लिए वांछित शब्दों को अग्निपरीक्षा से गुजारता है। सृजन की समूची प्रक्रिया और कलाकार की संपूर्ण वेदना 'वस्तु' और 'अभिव्यक्ति माध्यम' के इसी अग्नि-परीक्षा मूलक द्वंद्व के आधार पर एक श्रेयमूलक चित्रांकन के प्रयास में सन्निहित है।'⁵

रचना की सार्थकता यह है कि वह अनास्था, घुटन, संत्रास, ऊब और उदासी के बीच टूटते हुए जीवन को शक्ति दे। वस्तुतः रचना भी एक हथियार है। संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों ने इस हथियार का इस्तेमाल किया है। रचना की लड़ाई बड़ी महत्वपूर्ण लड़ाई है। सच्चे रचनाकार के भीतर हमेशा एक तीखी बेचैनी होती है जो सही रूप में बाहर आना चाहती है। रचनाकार के इस भीतरी असंतोष को वाल्टेयर ने रचनात्मक असंतोष (Constructive discontent) कहा है। रचना अंततः मानव की अनंत संभावनाओं का ही उद्घाटन है। मनुष्य के भीतर छिपी मनुष्यता को जगाने का एक कारगर माध्यम है। रचना का संबंध मनुष्य से है। उसकी प्रवृत्ति से है। मनुष्य का संबंध समाज से है। उसमें घटित होने वाली घटनाओं से है। इसलिए रचना का आगे बढ़ना, अपनी सीमाओं को तोड़ते

जाना, अमरत्व की दिशा में प्रयत्न करना, सच्चाई और वास्तविकता तक पहुंचना समाज सापेक्ष है। इसलिए अपनी आत्मा का विस्तार निरंतर आत्मपरीक्षण करते हुए ही किया जा सकता है। मुक्तिबोध की 'जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे' कविता ऐसे ही गहरे आत्म परीक्षण की कविता है। मन में उठने वाले सवालों के उत्तर भी अंतस ही देता है। संघर्ष के विचार का लहू पीड़ित विवेक की शिरा-शिरा को नहला जाता है। ऐसे में आदमी का अपना सुख-दुःख समाज के सुख-दुःख के आगे झुक जाता है। जन-संघर्ष की राहें घर, परिवार और समाज से होकर जाती हैं। संस्कारमयी, संतुलित और गहरी विवेक-चेतना के वास्तविक मूलगामी निष्कर्षों तक पहुंचने की खबर मुक्तिबोध बड़े बैनर देकर अपने अखबार में छापते हैं। अत्याचारी सत्ता के विरुद्ध लड़ते साधारण आदमी की अंतिम विजय का समाचार बेहद सुखद है- भयानक खबर कतई नहीं- 'वैज्ञानिक मानव-शस्त्रों से/मेरे सहचर हैं ढहा रहे/वीरान विरोधी दुर्गों की अखंड सत्ता/ उनके अभ्यन्तर के प्रकाश की कीर्तिकथा/ जब मेरे भीतर मंडरायी/ मेरी अखबार-नवीसी के भीतर सौ-सौ आँखें पायी।'⁶

वर्ग स्वभाव और जीवन-दृष्टि के बीच निरंतर जारी रहने वाली बहस मुक्तिबोध के काव्य का मूल ऊर्जा स्रोत है। इस स्रोत का निरंतर प्रवाह 'चंबल की घाटी में' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। लंबी जिरह के बाद कवि खुद को अपने ही भीतर के समझौता परस्त कायर सुविधावाद के विरुद्ध सशस्त्र करता है। 'अँधेरे में' कविता की फैंटेसी से कदम ब कदम टक्कर लेती यह कविता दस्यु के चेहरे पर पड़ा नकाब उतारकर वर्ग स्वभाव को नंगा कर देती है। मुक्तिबोध को भयानक खबर का कवि कहना अनजाने ही उनकी कविता को छोटा बनाना है। दरअसल वह दहशत भरे जमाने में रहने वाले मानवीय प्रेम और उम्मीद के कवि हैं। उनका कटना, टूटना, ढहना और बिखरते चलना भी- सब नवनिर्माण के लिए होता है- 'कट जाओ, टूट जाओ/ टूटने से विस्फोट शब्द जो होगा/ गूंजेगा जग भर, किंतु अकेले की तुम्हारी ही वह सिर्फ/नहीं होगी कहानी!!'⁷ कविता मुक्तिबोध की जीवन यात्रा है। यह जीवन-यात्रा ऐसे विचारशील कवि की है जो अपने समय के स्पंदन को अखंड काल की प्रवाह मान धारा में डूबते-उतराते पकड़ने की कोशिश करता है। वह साफ-साफ कहता है कि जरूरत पड़ने पर कविता को पोस्टर, कलम को हथियार में बदलने को तैयार वह मखमली सौंदर्यबोध का कवि नहीं है। उन्होंने अपनी 'डायरी' में लिखा है कि- 'किंतु जिंदगी में तो आवेश है, आवेग, उद्वेग, चिंता और क्षोभ है। ये उसे निकाल देने वाले कौन होते हैं? नयी कविता आधुनिक भावबोध पर चलती है, स्वीकार है हमें किंतु यह दुर्घटना है कि आधुनिक भावबोध में वह हिस्सा शामिल नहीं, जो आवेश मूलक है.... नयी कविता संबंधी एक अभिरुचि, मात्र 'गद्य' सह सकता है, लेकिन 'आवेश गद्य' नहीं।'⁸ आज ठंडे और निरुद्वेग मुहावरे का फैशन चलाने वाले समकालीन कवि-आलोचकों को पहले मुक्तिबोध से निपटना पड़ेगा। मुक्तिबोध अपने समकालीन कवियों में उपेक्षित अवश्य बने रहे। 'युग सत्य की तलाश' का नारा अज्ञेय ने अवश्य दिया था, परंतु इसके बाद वे कुछ न कर सके, कविता के स्तर पर एक हद तक छायावादी संस्कार ही प्रतिफलित करते रहे जबकि नयी कविता की इस मुख्य और महत्वपूर्ण प्रतिज्ञा को कविता में चरितार्थ करने की पहल मुक्तिबोध ने की। इसलिए उनकी कविता का मुहावरा समकालीनों से भिन्न, विशिष्ट और सार्थक बन पड़ा है। जीवन की विश्व-दृष्टि की तलाश में मुक्तिबोध मार्क्सवाद के सबसे निकट आए थे। एक कवि अनिवार्यतः यह खोज अपने सबसे आत्मीय कर्म कला सृजन द्वारा ही करता है। मार्क्सवाद

एक ऐसा दर्शन है जो पहली बार शोषित जनता का दर्शन पेश करता है। ऐसे तो इतिहास में अनेक विचारक एवं रचनाकार हुए हैं जिन्होंने शोषण और दमन के विरोध में आवाज उठाई है। लेकिन मार्क्स ने अपने दर्शन के द्वारा 'सर्वहारा' का जो स्थान और औचित्य इतिहास की द्वंद्वत्मक प्रक्रिया में निर्धारित किया है वह अपने आपमें महत्वपूर्ण है। मार्क्सवाद ने वैज्ञानिक विकासवाद की द्वंद्व-प्रक्रिया को सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्तर पर घटित किया और एक ऐसे जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया जो वर्गहीन समाज को अर्थ दे सके। समाजवाद और पूंजीवाद का द्वंद्व सदा से रहा है और अब भी वह चल रहा है और शायद यह द्वंद्व कभी समाप्त नहीं होगा। जब तक पूंजीवाद का अस्तित्व इतिहास में रहेगा तब तक मार्क्सवाद की भी प्रासंगिकता हमेशा बनी रहेगी। मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे। उनके सारे चिंतन का आधार यही है। उनका समग्र चिंतन मार्क्सवादी चेतना के भारतीय संस्कार का निजी अनुभव और विवेक से किया गया उपक्रम है। मुक्तिबोध हमेशा असत्य के विरोध में और सत्य के पक्ष में खड़े हैं। यह सत्य उन्होंने इतिहास, संस्कृति, मार्क्सवाद और जीवन से अपने भीतर प्राप्त किया है। वे गंभीर प्रतिबद्धता के हिमायती हैं और आरोपित प्रवृत्त्यात्मकता (Applied Temperancy) का विरोध करते हैं।

मुक्तिबोध की विचारधारा बिल्कुल साफ है न दुराव, न असमंजस्य। वे मार्क्सवादी हैं, द्वंद्वत्मक भौतिकवाद उनके लिए लक्ष्य ही नहीं, चुनौती भी था, जिसे उन्होंने अपनी कविता की स्वायत्तता और तेज की रक्षा के लिए एक संघर्ष के रूप में अपनाया था। अन्वीक्षा की जिन कंटीली राहों से उनकी कविता ने जो दूरियां तय की हैं, उनसे गुजरे बिना कवि के रचना-मानस की गुत्थियां नहीं सुलझाई जा सकती। उसने न तो बनी बनाई राह अपनायी, न लक्ष्य उसे सहज ही मिला। 'तारसप्तक' का युवा मुक्तिबोध कितना द्वंद्वग्रस्त, संशयी और खोजी है? उस वक्त जबकि लोग तथाकथित स्पष्टता और भावात्मक उफान के जरिए अपने को प्रगतिवाद के सरपरस्त ठहरा रहे थे, जबकि मुक्तिबोध जिज्ञासा प्रवृत्ति के वास्तविक (Objective) रूप की खोज में परेशान थे। शुरू में वे यहूदी कुल में जन्मे हेनरी बर्गसां के व्यक्तिवाद से प्रभावित हुए। मुक्तिबोध ने बर्गसां के विचारों से 'आंतरिक विनष्ट शांति' को बचाया और 'स्वतंत्र क्रियामाण जीवन-शक्ति के प्रति' उनकी आस्था बढ़ी लेकिन सौंदर्य और विश्वमानवता के सुख-दुःख के बीच संघर्ष की अनुभूति ने उन्हें बेचैन कर दिया। अंततः मार्क्स के द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के रूप में उन्हें 'अनुभव-सिद्ध तत्व-प्रणाली' प्राप्त हुई, जो ताउम्र उनके संघर्ष को धार देती रही। शुरुआती दौर में भटकते और सशक्त मुक्तिबोध तथाकथित शिखर और प्रखर पुरुषों से अधिक संजीदा होकर उभरे क्योंकि वे बिकाऊ और समझौतापरस्त रचनाकारों की दौड़ से कोसों दूर थे। 'हिंदी में हर साहित्यकार की एक कीमत है। वह कीमत चुका दीजिए और उस साहित्यकार को खरीद लीजिए, पर मुक्तिबोध को खरीदना असंभव था क्योंकि उनकी कोई कीमत नहीं थी।'⁹ 'न मंजूर उसे जिंदगी की शर्मनाक शर्त नामंजूर' कहने वाले मुक्तिबोध झुकते और बिकते भी कैसे 'पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं, जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं/उस ने ईश्वर-संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया' कहने वाले मुक्तिबोध भयावह वस्तुजगत के अँधेरे में अपने अन्वेषण की लालटेन जलाए खुद आगे बढ़ते रहे। फलतः उन्हें बार-बार अपने वक्तव्य बदलने नहीं पड़े, अनवरत प्रश्नाकुलता ने उन्हें न केवल व्यक्तिवादी चिंतन, बल्कि दिखावटी और सच्चे यथार्थ के अंतर को समझने की दृष्टि दी- 'सफल

हूँ (पथ-भ्रष्ट हूँ)/अविजेय हूँ (अधीन हूँ मैं)/हृदय में धुन-सा लगा रहता (पाप यह दारुण जगा रहता)/मैं महाशोधक महाशय सत्य-जल का मीन हूँ मैं/ सत्य का मैं ईश और मैं स्वप्न का हूँ परम स्रष्टा (किंतु सपने? प्राण की है बुरी हालत और जर्जर देह; यह है खरी हालत)। उग्र-द्रष्टा मैं स्वयं हूँ जब कि दुनिया मार्ग-भ्रष्टा।¹⁰

मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद को किसी फैशन के रूप में नहीं अपनाया था। उन्होंने अपने जीवनानुभवों और संवेदनात्मक ज्ञान व ज्ञानात्मक संवेदन से गुजरते हुए अपनी जीवन दृष्टि व विश्व दृष्टि का विस्तार किया। मुक्तिबोध को पता था कि बाह्य जगत् इतना सरल या स्थूल नहीं है कि उसे सतही धरातल से जाना-पहचाना जा सके। उसमें इतनी जटिल रहस्यमयता और अंतर्विरोध है कि उसे अंतर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। इस संबंध में प्रभाकर श्रोत्रिय का कथन सटीक लगता है- 'मार्क्स ने जिस द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को इतिहास, समाज, अर्थरचना और राजनीति के विश्लेषण से पाया है, वही मुक्तिबोध ने आत्म-संघर्ष के अंतः प्रयत्नों से कविता में उपलब्ध किया है।'¹¹ मुक्तिबोध के अंतर्द्वंद्व और आत्म-संघर्ष की सबसे बड़ी खूबी है इसका निरंतर बहस और जिरह में बदलते जाना। ऐसी बहस में जो समय की सारी समस्याओं और आसपास की भयावहता को अपने भीतर समेट लेने की शक्ति रखती है। इसी के साथ स्व के विस्तार की प्रक्रिया भी चलती है। क्योंकि मुक्तिबोध अवचेतन में दबे-छिपे संकल्पों को लगातार चेतन स्तर पर लाने में सफल होते हैं। 'चंबल की घाटी में', 'अँधेरे में' तथा 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' शीर्षक कविताओं में यह विशेष रूप से घटित होता है।

मुक्तिबोध स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति पर विशेष जोर देते थे। उनका आत्म-संघर्ष अपने निम्न मध्यवर्ग के अनुभवों की सीमा का भी परिणाम है। निम्न वर्ग से जुड़ने की इच्छा और अपने वर्ग की स्थिति का संघर्ष उनमें अपराध भावना भी जगाता है। आत्माभियोगी स्वर जैसा मुक्तिबोध में है वैसा हिंदी कविता में दुर्लभ है। 'अँधेरे में' कविता का नायक अपनी निष्क्रियता के प्रसंग में अनुभव करता है- 'मानो मेरे कारण ही लग गया/मार्शल लॉ वह/मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया है।' इस तरह की अपराध-भावना मुक्तिबोध में कई जगह भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है, क्योंकि मुक्तिबोध केवल आत्म-संघर्ष के ही कवि नहीं हैं, वे आत्म-संघर्ष करते हुए आत्मालोचन करते हैं, आत्मालोचन करते हुए आत्म विस्तार करते हैं फिर आत्मविस्तार करते हुए सर्वहारा से जुड़ जाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए मुक्तिबोध को निराला के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रासंगिक कवि माना जाता है। दोनों ही कवियों को परवर्ती पीढ़ी ने अपने लिए जिस तरह प्रासंगिक और महत्वपूर्ण पाया उससे निराला और मुक्तिबोध के (काव्य का) केंद्रीय आकर्षण प्रभाव को समझा जा सकता है। दोनों ही कवियों में आत्मालोचन और नए समाज तथा नए युवा रचनाकारों के प्रति रागात्मक आत्मीय भाव है। अपने संबंध में मुक्तिबोध का कहना है कि- 'लेखक अपनी रचना के माध्यम से अपने को बनाता है, भले ही उसकी रचनाएं अधूरी रह जाएं। कवि जीवन को और-और जानने लगता है, उसका व्यक्तित्व और-और समृद्ध होने लगता है।'¹² मुक्तिबोध का कवि छायावादी भावबोध और भाषा से छुटकारा पाने की कोशिश करता है। कवि को प्रारंभ में जो मार्ग पाने के लिए संघर्ष करना पड़ा था वह सन् 1944 के बाद कम हो जाता है। अब उनकी कविता व्यक्ति की अंतर्गुहा से निकलकर वास्तविक जीवन-संघर्ष में प्राप्त अनुभवों को अभिव्यक्त करने का औजार बन जाती

है। मुक्तिबोध यहां कथ्य के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं और साथ ही विशेष पैटर्न के लिए कोशिश भी। यहीं से आत्मान्वेषण और आत्म संशोधन की प्रक्रिया से 'गुजरते कवि की कविताएं' (1949-56) शुरू होती हैं। वेल्स तथा डिलथाइ जैसे इतिहास-दर्शनिकों ने ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण करते हुए यह मत प्रस्तुत किया कि किसी भी 'घटना' के दो पक्ष होते हैं- एक बाह्य तथा उसका दूसरा आंतरिक पक्ष जिनका सापेक्ष संबंध होता है। इतिहास-बोध का जहां तक प्रश्न है वह 'बाहर' से अंदर की ओर जाता है, सारी प्रक्रिया जो बाहर से अंदर की ओर जाती है, वह प्रातिभज्ञान (Intuition) के द्वारा घटित होती है। इतिहासकार या विचारक इतिहास को सहजज्ञान (Perception) या प्रातिभज्ञान (Intuition) के द्वारा एक आंतरिक 'अर्थ' देता है। यह प्रक्रिया कला और साहित्य की भी होती है। मुक्तिबोध की कविता की बनावट भी इसी प्रक्रिया से गुजरती है- 'जितना ही तीव्र द्वंद्व क्रियाओं घटनाओं का/बाहरी दुनिया में/उतना ही तेजी से भीतरी दुनिया में/चलता है द्वंद्व कि/फिक्र से फिक्र लगी हुई है।'¹³

इतिहास का यह द्वंद्व मार्क्स तथा हीगेल के विचारों से मेल खाता है। इतिहास का विकास द्वंद्वात्मक है और वैज्ञानिक विकासवाद भी इसे मान्यता देता है। यह सही है कि मुक्तिबोध ने वर्ग-संघर्ष और द्वंद्व को इतिहास और रचना-प्रक्रिया दोनों के लिए आवश्यक माना है।

मुक्तिबोध का कवि बाहर तो गति को महसूस करता है लेकिन भीतर उदासी, विवशता, चिन्ता और शंका से घिरा हुआ है। जो बाहर को टोकती है। इसका आमना-सामना रचना को संवाद का रूप देता है। एक ओर कवि का यह दवा है कि मैं सत्य की व्याख्या हूं और दूसरी ओर यह आत्म स्वीकार की व्याख्या सदा शोधनीया है। इस 'हैं' और 'होने' में तनाव बार-बार नए-से-नए स्तर पर दोहराया गया है-

*इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं सकता।¹⁴*

इस विवशता और असमंजस्य को मुक्तिबोध की रचनाओं में बार-बार देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की 'एक अन्तर्कथा' शीर्षक कविता भी एक आंतरिक द्वंद्व को लिए हुए है। द्वंद्व वही है- 'है' और 'होने' की चाह के बीच में है, आत्म-संशोधन की प्रक्रिया को जारी रखने वाला है। इसमें दायित्व का बोध एक टोकरी के माध्यम से दिया गया है, संवाद मां और बेटे के बीच है, जो फंतासी में चलता है। देश और परम्परा दायित्व-बोध को काव्यनायक अपने सिर उठाए हुए है। मां आग की लकड़ियां बीनती-बीनती जंगल (सभ्यता) में आगे चल रही है और बेटे में दुविधा की स्थिति है, लेकिन मां के आदेश का पालन करता हुआ वह हर टहनी-डंटल में एक-एक सपना देखता हुआ उसके पीछे चल रहा है। उसकी चाल तिरछी है, टोकरी उठाने में संकोच का अनुभव करता है और डरता भी है। मां का कहना है कि टोकरी में बंद आग खुलने को है। मुक्तिबोध की कुछ कविताओं की विशेषता है कि जहां वे बौद्धिक ऊहापोह, संशय, भय और आशंका का ग्राफिक वर्णन करना चाहते हैं, वहां कविता में प्रथम पुरुष के माध्यम से बात कहना उन्हें आवश्यक लगता है। इस प्रथम पुरुष की अपराध भावना या ग्लानि को कुछ आलोचक मुक्तिबोध की अपनी अपराध भावना या ग्लानि समझने की भूल भी कर बैठते हैं। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। अंतः जगत की प्रक्रियाओं को अधिक

स्पष्ट प्रदीर्घ और संगत रूप से प्रक्षेपित करने के लिए मुक्तिबोध की कविता का चरित नायक अक्सर 'मैं' अर्थात् प्रथम पुरुष में बदल जाता है। इसका उलट भी हो सकता है जब प्रथम पुरुष की अंतः क्रियाएं अचानक एक बड़े परिवेश के बैकड्राप में घटने लगती हैं और प्रथम पुरुष के तनाव और द्वंद्व की भूमि एकाएक अन्य पुरुष के तनाव और द्वंद्व में बदल जाती है। अंतः और बाह्य मुक्तिबोध की कविता में अविभाज्य रूप से परस्पर गुंफित है। यह सारा दृश्य 'दिमागी गुहांधकार का ओरांग उटांग' कविता में दृश्यमान क्रिया-प्रतिक्रियाओं के सूक्ष्म सौंदर्य के माध्यम से एक रचनात्मक साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहां राजेन्द्र मिश्र की उक्ति तर्क संगत लगती है- 'मुक्तिबोध में प्रचंड बौद्धिकता थी। उनके मनोजगत् के भीतर गहराइयों से उठकर पछाड़ खाती लहरों की तरह उद्दाम तार्किक संवेग उठते थे। उनके साथ संवेदना आकाश में उछाल मारती थी। मुक्तिबोध की कविताएं और गद्य भी उनके बौद्धिक अन्तर्द्वंद्व और बेचैनी के साक्ष्य हैं। यह बौद्धिक उद्विग्नता उनके साहित्य तक सीमित नहीं थी, बल्कि उनकी जीवन-शैली में समाहित थी।'¹⁵ मुक्तिबोध में यदि द्वंद्व न होता तो वे कवि न हो पाते, एक बड़े चिंतक या आलोचक ही बन पाते, कविता के बाहर नारे लगाते या कविता में नारे लगाते। कविता क्षुद्र प्राप्तिओं का संसार नहीं है। यह 'धर्मयुद्ध' की दुनिया है, जिसमें कवि अपने प्रश्नों की अकेली और बहुत हदतक अमूर्त लड़ाई लड़ता है। 'चंबल की घाटी' की उजाड़ में कवि की यह आस्था बनी रहती है कि सब लोग अभी मरे नहीं हैं, वे कहीं जिंदा हैं। आदमी शायद खुलकर काम करेगा, दस्यु बनकर भी हथियार बनाने के कारखाने कायम करेगा, गिरोह बनाएगा, आतंक फैला देगा। यह दस्यु कौन है? इसका संकेत आज के गुरीला की तरफ है। एक आवाज कवि को सावधान करती है-

*'शांत हो, धीरे धीरे/और उलटे पैर ही निकल जाओ यहां से/
जमाना खराब है, हवा बदमस्त है;/बात साफ-साफ है,
सब यहां त्रस्त है;/ दरों में भयानक चोरों की गश्त है।'¹⁶*

यह आवाज उन लोगों की है, जो गुरीलों को चोर, डाकू या लूटेरे समझते हैं। इस तरह काव्य-नायक में आवाजों का द्वंद्व चल रहा है, एक आवाज खतरा उठाने को कहती है दूसरी इससे भागने की सलाह देती है। फंतासी जारी है। 'तारसप्तक' के मुक्तिबोध का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है- 'मानसिक द्वंद्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है'। कवि के मानसिक द्वंद्व का स्रोत निश्चय ही अचेतन नहीं है। कवि का अंतर्द्वंद्व वस्तुतः बाहरी जगत में सामाजिक शक्तियों के संघर्ष का ही प्रति रूप है, जिसमें सौंदर्य के साथ विकासशील मनुष्य के सुख-दुःख के प्रसंग निहित है। इस संदर्भ में शंभुनाथ का कथन ठीक लगता है- 'मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष एक व्यक्ति का नहीं, सिर्फ कविता का भी नहीं, अंतर्विरोधों से भरे समूचे युग जीवन का आत्मसंघर्ष है, क्योंकि इसका सीधा रिश्ता उस वस्तुगत संसार से है, जिसके साथ मनुष्य का किसी तरह का संबंध अस्तित्ववादी कभी स्वीकार नहीं करता।'¹⁷ मुक्तिबोध समष्टि सत्य का मात्र दृष्टा या भोक्ता ही नहीं है, उसके नए आयामों के स्रष्टा भी है। उनमें तथाकथित जीर्ण परंपराओं और ध्वस्तावशेष अवस्थाओं को दार्शनिक मुद्रा में नकारने का कृत्रिम क्षुब्ध आवेग भी नहीं है न ही बनावटी अस्तित्ववादी प्रश्नों को उछालकर अनास्था और त्रास के कुहरे में उनको तलाशने का मसीहा जोश ही।

मुक्तिबोध की एक और लंबी एवं महत्वपूर्ण कविता 'ब्रह्मराक्षस' है। इस कविता में भी कवि

का अंतर्द्वंद्व स्पष्ट दिखाई देता है। इस कविता के कथ्य में हरे और श्वेत रंग के प्रयोग उच्च वर्ग की समृद्धि व सफलता के प्रतीक बनकर ही प्रयुक्त हुए हैं। शोषित मध्यवर्ग के सामने दो परस्पर विरोधी विचार-विकल्प हैं, एक 'हरी टगर' का जो पूंजी से जुड़ा हुआ विकल्प है, जिसके पास युटोपियन हवाई' पुष्प तारे श्वेत है दूसरी ओर- 'उसके पास/लाल फूलों का लहकता झौर/ मेरी वह लाल कन्हेर... बुलाती एक खतेर की तरफ.....।' ¹⁸

ये लाल फूल सर्वहारा की क्रांतिकारी चेतना के प्रतीक के रूप में यहां प्रयुक्त हुए हैं। ये दो विचारधाराओं के विरोधी पाट हैं, जिनके बीच शोषित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी संघर्षरत है। उसे इन दोनों में से एक का चुनाव करना होगा। शोषित-वर्ग का होकर वह शोषक-वर्गों की विचारधारा का वरण करेगा या तटस्थ रहेगा तो अपने वर्ग के साथ नाइन्साफी और गद्दारी करेगा। जाहिर है कि ये दो विरोधी विचारधाराएं हैं। मुक्तिबोध की अन्य कविताओं में भी इसी प्रकार की अर्थगर्भित दो विरोधी-विचारधाराओं के अभिव्यक्ति की टकराहट देखी जा सकती है।

'अँधेरे में' कविता मुक्तिबोध की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से भी इसकी तुलना हिंदी की श्रेष्ठतम कविताओं से की जा सकती है। आत्म पहचान करते हुए शेष मनुष्यों को भी उनकी स्थिति और नियति की पहचान दिलाते हुए मुक्तिबोध इस कविता में एक ऐसी दुनिया रच जाते हैं, जिसमें उनका समाज और देश-काल अपनी पूरी जटिलता और अंतर्विरोध में मूर्त हो उठा है। एक फंतासी का लचीलापन ही कथ्य के एक बड़े दबाव को झेल सकता है। आत्म पहचान, मृत-दल की शोभा-यात्रा, सैनिक प्रशासन और जन क्रांति की शुरुआत इन चार स्वप्न-स्थितियों में व्यक्त 'अँधेरे में' कविता का कथ्य (Content) विविध कलात्मक रूपों में पुनर्चित होकर समकालीन जीवन के अद्भुत प्रभावशाली पेनोरेमिक चित्र (Panoramic film) में बदल गया है। जिंदगी के अँधेरे कमरे या आदमी के अचेतन में गिरफ्तार कोई एक बार-बार अस्तित्व जानता है लेकिन जिसकी कोई पहचान मालूम नहीं। फंतासी गतिशील होती है। तिलिस्मी खोह का गुहाद्वार अचानक खुलता है और यह जानने में आता कि 'यह रहस्यमय व्यक्ति/अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति/पूर्ण अवस्था वह/निज-संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की, मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव/हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह/ आत्मा की प्रतिमा।' ¹⁹ यहां अपने ही व्यक्तित्व के भरे-पूरे विचारवान हिस्से को जान लेने के बाद गहरा अंतर्द्वंद्व शुरू होता है। उस रहस्यमय व्यक्ति ने जो प्रश्न खड़े किए थे वे गंभीर ही नहीं खतरनाक भी थे। नैतिक सवालों से जूझने का साहस ऐसे ही नहीं आ जाता। सुविधापरस्त मध्यवर्ग ऐसे अवसरों पर तुरंत अपने घर के खिड़की-दरवाजे बंद कर लेता है। दरवाजे पर विचार और विवेक की सांकल बड़ी देर तक बजती रहती है। एक मन कहता है कि बंद दरवाजे खोलकर अपनी आत्मा की प्रतिमा को बाहों में कस ले, हृदय में रखले लेकिन वही कायर सुविधापरस्ती पैर की बेड़ी बन जाती है- 'अरे भाई मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा/मुझे डर लगता है ऊंचाईयों से/बजने दो सांकल/उठने दो अँधेरे में ध्वनियों के बुल बुले/वह जन-वैसे ही/ आप चला जाएगा आया था जैसा/खड्डे के अँधेरे में मैं पड़ा रहूंगा/पीडाएं समेटे!' ²⁰

अपने में बंद हो जाने के बाद भी काव्य-नायक अनुभव करता है कि मीठी दुस्सह्य शब्द-लहरें उसका लगातार पीछा करती चल रही हैं। कोई उससे उसी का मर्म कहना चाहता है। जब तक आकर चाहे जिन प्रतीकों और इशारों में अपना उद्देश्य समझाने में लगा यह व्यक्तित्व अब अपरिचित नहीं

रह गया है। वह आत्मा में छिपे विवेक पुरुष की वही रहस्यमय छवि है जिसकी प्रेरणा से कवि एक लंबे अंतः संघर्ष के बाद अपने समय की हलचल से आ जुड़ता है। फिर भी उसका कायर सुरक्षाभिमुख मन इस आत्म पहचान से कतराना चाहता है। मध्यवर्गीय चरित्र की सीमाओं से नैतिक स्तर पर मुक्त होने की सलाह देता यह रहस्य-पुरुष उसे दुविधा में डालता है-

*‘क्या करूं क्या नहीं करूं मुझे बताओ/ इस तम-शून्य में तैरती है जगत-समीक्षा/
की हुई उसकी/(सह नहीं सकता)/विवेक-विक्षोभ महान उसका/
तम अन्तराल में (सह नहीं सकता)/अंधियारे मुझमें द्युति-आकृति-सा/
भविष्य का नक्शा दिया हुआ उसका/सह नहीं सकता!!’²¹*

इस वैचारिक अंतर्द्वंद्व के बाद भीतर का अँधेरा, क्रमशः छटने लगता है और सोच की एक खास दिशा में बहता कवि महसूस करता है कि उसकी आत्मा में कोई द्वंद्व नहीं रह गया है। मन में भीषण सत्-चित्त-वेदना जल उठी है और विचार उनके सहचर बन गए हैं।

‘अँधेरे में’ कविता का सारा कार्य-व्यापार एक ठंडे अंधकार में घटित हुआ है। निराला की कविता में जो अँधेरे के बिंब हैं ये आध्यात्मिक संदर्भों को लेकर चलते हैं। मुक्तिबोध की कविता में यह सर्वत्र व्याप्त अँधेरा सामाजिक संदर्भों का परिवेशगत अँधेरा है। यह परिवेश नेहरू काल ही है, जहां पूंजी का खेल जोरों-शोरों से शुरू हुआ था। इस समय व्यक्ति और समाज में नैतिक मूल्यों का क्षरण चरितार्थ हो रहा था। यह अचानक नहीं घटित होता है कि मुक्तिबोध की ‘अँधेरे में’ कविता में साहित्यकारों, पत्रकारों के साथ जुलूस में डोमाजी उस्ताद एक साथ चल रहे हैं, जो व्यक्तित्व का विभाजन करने में लगातार सक्रिय हैं। इस यथार्थ की एक सच्ची काली तस्वीर मुक्तिबोध की कविताओं में नेहरू युग के जटिल होते रिश्तों को उद्घाटित करती हुई विस्तार से दर्ज है। हम देखते हैं कि नेहरू युगीन स्थितियों की सबसे प्रखर और सटीक आलोचना भी ‘अँधेरे में’ कविता में है। मुक्तिबोध की ‘अँधेरे में’ कविता में व्याप्त अँधेरे का निर्माण भय और आतंक की त्रासद स्थितियों में हुआ है। निराला की ‘राम की शक्तिपूजा’ कविता में भी अँधेरे की यह तीव्रता आलोक के तेज में प्रस्फुटित हुई थी। इस कविता की शुरुआत ही अस्तमित रवि और ज्योतिपत्र की भास्वरता के साथ होती है-‘रवि हुआ अस्त :/ ज्योति के पत्र पर लिखा अमर/ रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।’²² मुक्तिबोध भी ‘अँधेरे में’ कविता में अँधेरे और उजाले के द्वंद्व को प्रस्तुत करते हैं। ‘अँधेरे में’ कविता की यात्रा एक प्रकार से अँधेरे से उजाले की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, असत्य से सत्य की ओर के अंतर्द्वंद्व की यात्रा है। यहां निराला से मुक्तिबोध की तुलना का सबसे बड़ा आधार जीवन और जगत में व्याप्त अँधेरा ही है। कविता में व्याप्त यह अँधेरा मुक्तिबोध के परिवेश की निराशा, जडता, संशय और भय का अँधेरा है। कवि अपनी अतिरिक्त बौद्धिकता और संवेदनशीलता के कारण अपने चारों ओर व्याप्त आतंक की स्थितियों को बहुत ही गहराई से देखा है। यह देखना कवि की अनुभूति की सबसे बड़ी प्रामाणिकता है। मुक्तिबोध उन रचनाकारों में से एक थे जिनके पास जिंदगी का अन्तहीन, तनावभरा, विविध और गहरा अनुभव था। समाज और उसके इतिहास को बदलते संदर्भ में पहचानने के लिए उनके पास एक लेजर दृष्टि थी, यह दृष्टि निराला के पास भी थी। यहां निराला और मुक्तिबोध का जिक्र करने का आशय मुक्तिबोध पर निराला का प्रभाव ग्रहण करना कतई नहीं समझना चाहिए। क्योंकि ‘संवेदना कवि की अपनी जन्मजात पूंजी है, वह उसकी उर्वरता है। यदि

दो कवियों के भाव कहीं मिलते हैं, तो वे प्रभाव नहीं कहे जा सकते, समानुभूति कहे जाने चाहिए।²³

कविता कई लोगों को बकवास लग सकती है, लेकिन यह उत्पीड़ित मनुष्यता को अपने संघर्ष के लिए तैयार करने का अव्यर्थ हथियार है। हम सब जानते हैं कि कविता शौक या उपभोग की वस्तु नहीं है, यह एक प्रतिबद्धता से भरा कठिन रचना-कर्म है। 'अँधेरे में' कविता में एक ओर यदि रहस्यमयी, काले और भयावह संसार पर कवि की दृष्टि है तो दूसरी ओर जमीन के भीतर बिछे बिजली के जीवित तारों की तरह गुप्त जन-क्रांति की विद्युत-तरंगों की खोज में भी वे सन्नद्ध हैं। इसलिए काव्य-नायक भूगर्भ के अँधेरे में खोज यात्रा करता है। जहां अन्त में उसे 'मणि तेजस्त्रिय (रेडियो-एक्टिव-Radioactive) रत्न' बिखरे मिलते हैं। इस अर्थ में यह अँधेरे लोक की नकारात्मक यात्रा नहीं है, एक विधायक और आस्थामयी उपलब्धि यात्रा है। द्वंद की शक्ति को मुक्तिबोध ने इस कदर पहचान लिया था कि वे साम्यवाद की भाषा में प्रतिक्रियावादियों या साहित्य की भाषा में कलावादियों और अतिथार्थवादियों के शिल्प का कविता में जानबूझकर प्रयोग कर रहे थे। अंतर्विरोध और द्वंद को अपने व्यक्तित्व में पूरी तरह समाविष्ट करके ही मुक्तिबोध कविता में द्वंद की समग्र अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। यहां राजेन्द्र मिश्र का कथन सही लगता है 'बीसवीं शती के अंतर्द्वंद और व्यग्रता को मुक्तिबोध ने आत्माभियोग की भंगिमा में रचा, जबकि श्रीकान्त वर्मा ने आक्रामकता के मुहावरे में। मुक्तिबोध के पास एक बीहड़ भाषा थी, मगर श्रीकांत के पास चुस्त जुमले। मुक्तिबोध का काव्य नायक असुरक्षा-बोध से ग्रस्त है, वह जनसमूह की ओर आशा-भरी निगाहों से देखता है। श्रीकांत वर्मा का काव्य नायक निस्संग और निर्वासित है, वह मृत्युबोध का शिकार है, विफलता का उत्सव मनाता है। दोनों विरूप के साक्षी हैं, अपनी तरह से दोनों प्रोटेस्ट करते हैं।'²⁴ मुक्तिबोध ने कविता को 'आत्म-संघर्ष' कहा है। 'अँधेरे में' कविता इसे नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करती है। यहां नाटकीय द्वंद मुख्यतः आलोचक मन और आलोचित आत्म-व्यक्तित्व के बीच घटित होता है। यदि हम इसकी वैचारिक बुनियाद तक पहुंचना चाहें तो वह बुर्जा साहित्य (जो मूलतः आत्मग्रस्त अवसाद और समाज से पलायन का प्रतीक है) की मार्क्सवादी आलोचना है। दूसरे शब्दों में यह प्रतिगामी व्यक्तिवाद का सामाजिक यथार्थ से द्वंद है। कविता में नाटकीयता के साथ कई चरित्रों का प्रवेश होता है, किंतु कविता में आनेवाला रहस्य-पुरुष काव्य-नायक को प्रेरित करने वाला और इसी कारण कविता का भी केंद्रीय चरित्र है। यही अवसर-अनवसर प्रकट होकर काव्य नायक के 'हृदय को देता है बिजली के झटके' और कहता है- 'पार करो पर्वत-सन्धि के गहवार/रस्सी के पुल पर चलकर दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुंचो।' काव्य नायक उससे प्रभावित और स्नेहपूर्ण आकर्षण में बंधा-जुड़ा पाकर भी सोचता रहता है कि यह जैसा आया है, चला जाएगा- 'यह भी सही है कि/कमजोरियों से ही है मोह मुझको... अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा/मुझे डर लगता है ऊंचाईयों से' ऐसा सोचकर वह खड्डे के अँधेरे में पड़ा रहना चाहता है। स्पष्ट है कि मुक्तिबोध यहां सुविधावादी मध्यवर्ग के सुरक्षाकामी मानसिक अन्तर्द्वंद को प्रकट कर रहे हैं।

'अँधेरे में' कविता ने अंतर्द्वंदों से ताकत पाई है। मनुष्य की दयनीय दशा से दयालु दृष्टि पाई है। संकटग्रस्त (शोषित) मनुष्यता से रचनात्मक दिशा पाई है। यहां द्वंद भाषा के धरातल से चला भावना के गर्भ तक का, यथार्थ के धरातल से चला इतिहास के वक्ष तक का, अनुभव के धरातल से चला अभिव्यक्ति की आत्मा तक का है। यहां मनुष्य की दयनीय दशा के अनेक रूप मौजूद हैं।

इस कविता के समूचे कथ्य को समग्रता की कसौटी पर कसकर परखने से पता चलता है कि - मानसिक तनावों और अन्तर्द्वंद्वों की अवचेतन की सतह से उठती छाया कृतियों और सामाजिक विसंगतियों से जूझते आदमी के अस्तित्व और जीवट के विविध रूप कविता को अधिक सशक्त बनाते हैं। व्यक्तिवादी चिंतन (अस्तित्ववादी) को यथासंभव सामाजिक (सामूहिक) स्तर पर रूपायित करने की दिशा में इस कविता की अभिव्यक्ति सबसे अलग, अनूठी पहचान है। कविता में व्यवस्था के विरुद्ध एक विक्षुब्ध व्यक्ति(कवि) की विस्फोटक बुदबुदाहट है। विशेषकर यहां मानसिक द्वंद्व-तनाव, त्रास-भय का स्फीति-अतिरंजना से उकसा, उग्र, उलझा-पुलझा भयावह, स्याह, सर्पिल स्वर है। इसे स्वप्न-दृष्टि रचना के कोरे तर्काधार पर ही महान् समझना और समझाना आलोचकों की कूट राजनीति की एक बड़ी साजिश है। 'अंधेरे में' कविता गहरे द्वंद्व में 'जगत समीक्षा' करती हुई जान पड़ती है और काव्य नायक की आत्मा में भीषण सत्-चित्-वेदना जल उठती है। वस्तुतः यह कविता पूर्ण रूप से 'परम अभिव्यक्ति' एवं 'जगत समीक्षा' की शक्ति प्रदाता है।

मुक्तिबोध का सारा जीवन जटिल संघर्षों का जीवन रहा है। ऐसी जटिलताएं निराला और नागार्जुन के जीवन की भी रहीं हैं जो हर प्रकार के बाहरी दबावों के बावजूद अपने विचारों के लिए समझौते की नहीं बल्कि संघर्ष की जिन्दगी जीते रहें। जिन्दगी में सरलता या सपाटता वहां होती है जहां बाहरी और भीतरी द्वंद्व एवं तनाव का अभाव होता है। आज हम देखते हैं कि कलाकार का ही नहीं बल्कि आम आदमी का जीवन भी संघर्षों से भरा पड़ा है। यही कारण है कि आज के परिवेश में हर सर्जक व्यक्ति का जीवन खतरे में पड़ा है क्योंकि 'जमाना खराब है चारों तरफ चोरों की गश्त है', इससे लड़ना कवि एवं कलाकारों की नियती है। बहुत से कवि सिर्फ सर्जनात्मक क्षणों में ही संवेदनशील होते हैं। जब सर्जनात्मक क्षण गुजर जाते हैं तो वे अपने हिसाब-किताब में माहिर और संवेदनशून्य हो जाते हैं। ऐसे कवि यदि सत्ता के पक्षधर बन जाते हैं तो निर्दयी भी हो जाते हैं लेकिन सच्चाई यह है कि हर युग की श्रेष्ठ कविता जीवन के कठिन संघर्षों और अन्तर्द्वंद्वों के बीच से ही रची गई लेकिन संघर्ष और उससे उत्पन्न होने वाली जटिलताओं के कई रूप और स्तर होते हैं। जनवादी विचारों के लिए विरोधी शक्तियों से निरंतर संघर्ष करना और उससे उत्पन्न पीड़ा को सहना एक बात है और अपने अन्तर्मन की कुंठाओं के द्वंद्व को ही जीवन-संघर्ष मानकर उससे उत्पन्न वेदना को सर्जनात्मक रूप प्रदान करना एक अलग बात है।

मुक्तिबोध के जीवन को समझने का मतलब है उनके जीवन के अस्तित्व-संघर्षों के प्रयासों को समझना। मुक्तिबोध की कविताओं में जो अंतर्द्वंद्व है वह बाहर से थोपा हुआ नहीं है। पारिवारिक झंझटें, माता-पिता से दूरी, आर्थिक अभाव, स्वभावगत संकोच उनकी कविताओं में अभिव्यक्त अंतर्द्वंद्व को घनीभूत करते हैं। लेकिन मुक्तिबोध अपने व्यक्तिगत जीवन के अंतर्द्वंद्व का समाजीकरण करते हैं। उसके सामाजिक, सांस्कृतिक अर्थ ढूंढते हैं। वे बड़े कवि इसीलिए भी हैं क्योंकि व्यक्तिगत अनुभव को सार्वजनिक बनाते हैं। यहां नामवर सिंह का कथन अत्यंत सटीक लगता है- 'मुक्तिबोध उन कवियों में से हैं जिन्होंने सफलता का यह सरल पथ छोड़कर इस युग की उलझनों में जान-बूझकर अपने को डाला है। उन्होंने एक मुश्किल काम अपने हाथ में लिया है। उनकी कविताओं का केंद्रीय विषय है आज के व्यक्ति-मन का अंतर्द्वंद्व। सामाजिक अंतर्द्वंद्व की जो छाया व्यक्ति के जागरूक मन में प्रतिबिंबित हो रही है उसीके मार्मिक चित्रण का प्रयास मुक्तिबोध ने बार-बार किया है। इस

तरह मुक्तिबोध आत्म विश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक संघर्ष को समझना चाहते हैं। उनकी कविताओं में इसी आत्म-संघर्ष से छिटकी हुई चिनगारियों की चित्र-शृंखला मिलती है।²⁵ मुक्तिबोध युगीन यथार्थ को समग्रता में अभिव्यंजित करना चाहते थे। इस समग्रता की जुस्तजू में उन पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जीवन के कटु भयावह यथार्थ क्षणों से उलझने का दावा संभवतः हर साहित्यकार करता है लेकिन उनमें कितने लोग इस दावे को निभा पाते हैं यह बात देखने की है। मुक्तिबोध का काव्य निस्संदेह जटिल जीवन संघर्ष के अंतर्द्वंद्व की गाथा है। अंतर्द्वंद्व मुक्तिबोध की नियति और प्रवृत्ति दोनों है और उनकी जीवन शैली भी। अंतर्द्वंद्व के बिना वे जी भी नहीं सकते। कितने ही अंतर्द्वंद्वों को झेला है उन्होंने। मनुष्य का पहला द्वंद्व है जन्म और दूसरा द्वंद्व मृत्यु और इन दोनों के बीच का समय सतत अंतर्द्वंद्व है। जो स्वयं विकसित होने की ताकत न रखता हो वो जीव नहीं जड़ होता है और मनुष्य जीव (Living thing) है। इसीलिए उसके संघर्ष में हमेशा एक प्रकार की अंतर्धारा (Undercurrent) उपस्थित रहती है। मुक्तिबोध की रचनात्मकता में, उनके काव्य-बोध में राग और विचार की फांक नहीं रह जाती। कवि ने अपनी रचनात्मकता के लिए सामाजिक जीवन यथार्थ से नए रूपाकार तथा नए भाव तत्वों को ग्रहण किया है। आत्म-सम्मान की खातिर उन्होंने अनिश्चय भरे जीवन को चुना, लेकिन जिंदगी से जूझते, अस्थिर जीवन के उद्वेग का वरण कर उनका काव्य नायक भी द्वंद्व और दुविधा का शिकार होकर कहने के लिए मजबूर होता है कि 'कहां जाऊं-दिल्ली या उज्जैन?' मुक्तिबोध की यह बेचैनी आज उनके निधन के 50 साल बीत जाने के बाद भी, भारतीय मध्यवर्ग की विडंबना, उसकी यातना और आत्म दमन के मार्मिक अनुभवों में रच बस गयी है। जिन भयावह दृश्यों, बिंबों, रूपकों और प्रतीकों के सहारे मुक्तिबोध ने जिस हिंदुस्तान के दुःस्वप्नों का साक्षात्कार किया था, वे दुःस्वप्न आज हमारे सामने वास्तविक होकर उभर रहे हैं, चारों तरफ रचनाकार और कलाकार की अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगाए जा रहे हैं, ऐसे वक्त हमें अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हुए दुर्गम पहाड़ों को पार करना ही होगा। मुक्तिबोध कहते थे -पार्टनर डरना नहीं लड़ना है- One fight more, the last and the best. इस महागुरु से हमें बहुत कुछ सीखना और सिखाना है।

संदर्भ

1. तारसप्तक- सं. अज्ञेय, पृ. 22-23
2. मुक्तिबोध रचनावली खंड-2, पृ. 172
3. History and class consciousness : George Luckos (Preface to new Ad.), page no. 11
4. मुक्तिबोध रचनावली खंड-2, पृ. 240
5. आजकल - जुलाई 1989, पृ. 24, लेख : रचना-प्रक्रिया और कामायनी की शब्द सिद्धि
6. चांद का मुंह टेढ़ा है - मुक्तिबोध, पृ. 180
7. चांद का मुंह टेढ़ा है - मुक्तिबोध, पृ. 253
8. एक साहित्यिक की डायरी - मुक्तिबोध, पृ. 61
9. महागुरु मुक्तिबोध : जुम्मा अँक की सीढ़ियों पर - कातिकुमार जैन, पृ. 197
10. तारसप्तक- सं. अज्ञेय, पृ. 41

11. संवाद- पृ. 21, लेख : मुक्तिबोध : अँधेरे में गहरी छान बीन
12. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध- मुक्तिबोध, पृ. 177
13. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 270
14. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 121
15. छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध- सं. राजेन्द्र मिश्र, पृ. 50
16. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 236
17. दस्तावेज- अक्टूबर 1981, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 122
18. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 38
19. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 256
20. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 258
21. चांद का मुंह टेढ़ा है- मुक्तिबोध, पृ. 258-259
22. रागविराग- सं. रामविलास शर्मा, पृ. 92
23. महागुरु मुक्तिबोध : जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर- कांतिकुमार जैन, पृ. 143
24. छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध : सं. राजेंद्र मिश्र, पृ. 59
25. कवि (पत्रिका- अप्रैल, 1957), सं. विष्णुचंद्र शर्मा- लेख : विशिष्ट कवि : गजानन माधव मुक्तिबोध - डॉ. नामवर सिंह



प्रसाद का कथाशिल्प : एक पुनर्विचार

उषा शर्मा

मानव जीवन के साथ कला का गहरा संबंध है। सुव्यवस्थित ढंग से जीवन को बिताना भी एक कला है। अनेक व्यक्ति जीवन को जैसे-तैसे गुजार लेते हैं, जबकि अनेक ऐसे भी होते हैं, जो जीवन को सुरुचिपूर्ण ढंग से व्यतीत करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वे जीवन को एक कलात्मकता प्रदान करते हैं। किसी भी कार्य को कौशल के साथ करना एक कला है। जब जीवन का संबंध कला से होता है, तो जीवन में सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार जब सृजन के साथ कला का संबंध होता है, तो सृजन में भी सौंदर्य आ जाता है। कला रचना की एक प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य विषय-वस्तु को और अधिक आकर्षक बनाना है। तुलसीदास कला की अपेक्षा जीवन मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं। वे रामचरितमानस में कहते हैं -

*कीरति भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।*

हिंदी के एक अन्य कवि केशवदास कलावादी रचनाकार हैं। वे कला को साहित्य या काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। वे लिखते हैं -

*जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुंदर, सरस, सुचित्त
भूषन बिनु न विराजयी, कविता, बनिता, मित्त।*

कला, मानव हृदय को आनंदित करती है तथा दुःखों का निवारण करती है। कलाविहीन जीवन कठोर और शुष्क है। कला एक ऐसा संसाधन है, जिसके माध्यम से गंभीरता भी सरस हो जाती है। आधुनिक रचनाकार भी कला की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सृजन का विषय तथा विषय को प्रस्तुत करने की कला, दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, अकेले विषय अथवा अकेली कला सौंदर्य भाव पैदा नहीं कर सकती। बाबू गुलाब राय लिखते हैं- 'सुंदर अभिव्यक्ति के बिना विषय पंगु रह जाता है और विषय के सौंदर्य के बिना कला का सौंदर्य खोखला है।'¹

कला सर्जक की ऐसी आंतरिक अनुभूति है जो बाह्य रूप में अभिव्यक्ति होने पर अपने आस-पास को प्रभावित करती है। बिना बाह्य अभिव्यक्ति के कला अर्थहीन हो जाती है इसलिए उसका व्यक्त होना अनिवार्य है।

पाश्चात्य रचनाकार क्रोचे कहानी में, कला पक्ष को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने क्रोचे के सिद्धांत के विषय में लिखा है... 'क्रोचे के अनुसार कला मूलतः सहजानुभूति है, जो अभिव्यक्ति

से अभिन्न है। कला का मूलरूप कलाकार के मानस में घटित होता है..., रंग-रेखा, शब्द लय आदि में उसका अनुकरण सर्वथा आनुषंगिक घटना है।'²

डॉ. श्रीकृष्णलाल ने कहानी में कलात्मक अभिव्यंजना पर विशेष बल दिया है। कुछ ऐसे भी समीक्षक हैं जो कला को विशेष महत्त्व नहीं देते। वे सृजन के लिए कला का प्रयोग सर्वथा अनुचित मानते हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि अन्य विषयों की तरह कला भी काव्य का एक विषय ही है। वे इसके अलग अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। भैरव प्रसाद गुप्त का मत है कि 'कोई भी कहानी मात्रा कला की कलाबाजी पर खड़ी नहीं होती।' वे कहानी में कला को गौण मानते हैं। वे चाहते हैं कि कहानी का निर्माण जीवंत वस्तु शिला पर होना चाहिए ताकि वह पत्थर की तरह ठोस तथा कांक्रीट की तरह शक्ति संपन्न हो।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का विचार है कि कहानी परंपरागत स्वरूप से हट गयी है। कहानी-कला में चरित्र प्रधान हो गया है, जिसका हृदय दुर्बोध और रहस्यमय है। इस दुर्बोधता तथा रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए कहानी कला में रूप तथा शिल्प विधानों का विकास होने लगा है।

वास्तविकता तो यही है कि कला सहज रूप में ही आनी चाहिए प्रयत्नपूर्वक नहीं। यही कारण है कि कला के लिए कला 'आर्ट फॉर आर्ट्स सेक' जैसा आंदोलन साहित्य में मान्य नहीं हुआ और संदेशमूलक साहित्य को ही विशेष महत्त्व मिला।

दरअसल जीवन के किसी तथ्य को कथा के माध्यम से प्रकट करना ही कहानी है। सृष्टि के आरंभ से ही मानव जीवन में देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन हुआ है। कहानी ने भी इन सभी बातों को आत्मसात किया है और कहानी की उपस्थापना भिन्न-भिन्न रूपों में होती रही है। आज की कहानी का प्राचीन कहानी से यही मेल है कि वह सदा मनुष्यता की बात करती है पर कला के स्तर पर आज की कहानी प्राचीन कहानी से पूरी तरह भिन्न है।

प्राचीनकाल में कहानियां के विषय पौराणिक हुआ करते थे। ये कहानियां पुराणों अथवा महाभारत में सन्निहित हैं। महाभारत में बीच-बीच में ऐसी कहानियां मिलती हैं, जिनको नैतिक मूल्यों का संदेश देने के लिए रचा गया था। उदाहरण के लिए महाभारत में एक कहानी महर्षि आयोदधौम्य के शिष्य उपमन्यु की है। महर्षि उपमन्यु को गाय की रक्षा का भार सौंपते हैं। उपमन्यु गायें चराता है और भिक्षा प्राप्त कर जीवन-यापन करता है। महर्षि उपमन्यु को स्वस्थ पाकर यह पूछते हैं कि वह इतना स्वस्थ कैसे है? उपमन्यु भिक्षा की बात बता देता है। महर्षि को भिक्षा में पायी वस्तु गुरु को अर्पित किये बिना ग्रहण करना अनुचित लगता है। उपमन्यु ने गुरु को भिक्षा देना आरंभ किया। महर्षि को यह भी अनुचित लगा। तब उपमन्यु भूख से लाचार होकर गायों का दूध पीने लगा। महर्षि ने इस पर भी आपत्ति की। अन्ततः वह बछड़ों द्वारा गायों का दूध पीने के बाद गिरे हुए झाग से अपना जीवन यापन करने लगा। महर्षि ने इस पर भी रोक लगा दी। तब उपमन्यु ने आक के पत्ते खा लिए जिससे उसकी आँखें समाप्त हो गयीं। अश्वनी कुमारों ने उसकी आँखें ठीक कीं।³

प्रस्तुत कहानी में किसी प्रकार की कलात्मक जटिलता नहीं है। सीधे-सादे वर्णन के रूप में जीवन मूल्यों को उपस्थित कर देना ही कहानी की कला प्रतीत होती है। ऐसी कहानियों में न किसी प्रकार की संवाद योजना होती थी और न चरित्रों की आधुनिक अवधारणा थी। रचनाकार एक जीवन मूल्य का निर्णय कर लेता था और उसके लिए सहज ढंग से कथानक बुनता जाता था। इस कहानी

का मूल्य है गुरु की आज्ञा का पालन। आज इस आज्ञा पालन पर उंगली उठाई जा सकती है और गुरु को क्रूर कहा जा सकता है। प्राचीन काल का कहानीकार कहानी को दुखांत नहीं बनाता था। प्रस्तुत कहानी में भी उपमन्यु की आँखें ठीक करा दी गयीं और उपमन्यु ने जो दुःख उठाए थे उनका उसे पुरस्कार दे दिया गया। यह तत्कालीन कहानी की एक शैली है। पंचतंत्र और हितोपदेश तो कहानियां नीतिपरक कहानियों का भंडार ही हैं। इन दोनों कृतियों की शैली एक समान है। पंचतंत्र युग की कहानी कला का स्वरूप यह है कि रचनाकार कहानी के माध्यम से किसी न किसी नीति पर बल देता है। हर कहानी का समाहार एक नीति में होता है। पंचतंत्र में कहानी कहने और उसी कहानी में से निष्कर्ष निकालने तथा नीतिमूलक श्लोक में प्रस्तुत करने की कहानी कला के दर्शन होते हैं। कहानी के समापन के आते ही लेखक एक नीति उपस्थित कर देता है... 'राजा, स्त्री और लता का यही नियम है कि वे पास रहने वाले को ही अपनाते हैं।' प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्चयः पार्श्वतो भवति तत्पर्यवेष्ट्यन्तिद्ध ।'⁴

हितोपदेश भी पंचतंत्र की शैली में रचा गया है। मानवीय हित के लिए उपदेशमूलक कथाओं का नाम ही हितोपदेश है। इसकी रचना भी ईसा पूर्व में हुई थी। इस कहानी कला का विकास हिंदी में भी हुआ पर केवल बाल कहानियों में। बड़ों के कहानी साहित्य में यह कला नहीं अपनायी गयी। इसका कारण यह था कि यह कला केवल साधारण बुद्धि के पाठकों के लिए ही उपयोगी थी। कालान्तर में बाल कहानी में भी इस कला को त्याग दिया गया।

'सिंहासन बत्तीसी' की बत्तीस पुलियां भी आदर्शमूलक कहानियां सुनाती हैं। हर पुतली एक कहानी कहती है, जिसमें उसके गुणों की चर्चा की जाती है। कहानी सुना कर पुतली महाराजा विक्रमादित्य से प्रश्न करती है कि यदि ये गुण उसमें हैं तभी वह सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है। पुतली यह कहकर आकाश में उड़ जाती है। सभी कहानियों में मानवीय आदर्शों की कल्पना की गई है, जिनको बड़ी सरल शैली में व्यक्त किया गया है। इन कहानियों में भी कलागत जटिलता नहीं है।

कला की दृष्टि से कहानियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- लोक कथाएं और शास्त्रीय कहानियां। शास्त्रीय कहानियों को आधुनिक कहानियां भी कह सकते हैं, जबकि लोक कथाएं वे पारंपरिक कथाएं अथवा कहानियां हैं, जो अनादि काल से समाज में चली आ रही हैं। लोक कथाओं की अपनी शैली और शिल्प होता है। शास्त्रीय कहानियों से भिन्न इन कहानियों की अपनी कला है। शास्त्रीय कहानियां प्रायः परिनिष्ठित भाषा में रची जाती हैं जबकि लोक कथाएं लोक बोलियों में रची जाती हैं। इन दोनों प्रकार की कहानियों में एक अंतर और है- वह ये कि शास्त्रीय कहानियों का कोई विशिष्ट रचनाकार होता है, जबकि लोक कथाएं अनाम रचनाकार का सृजन होती हैं। इनकी रचना एक समूह ने की है। ये सम्पूर्ण लोक जीवन की सृष्टि हैं। यही कारण है कि एक ही लोक कथा विभिन्न लोक बोलियों में या विभिन्न रूपों में मिल सकती है। एक ही लोक बोली में लोक कथा अपने पाठांतरों के साथ भी मिलती है। लोक कथावाचक सुनाने के क्रम में इन कहानियों में परिवर्तन करते रहते हैं इसीलिए इनमें पाठान्तर हो जाता है।

हिंदी की कहानियों की बात करें तो भारतेंदु युग से पूर्व तक की कहानियों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कहीं-न-कहीं संस्कृत की नीति कथाओं की झलक मिलती है। इन कहानियों का कलात्मक

स्वरूप भी पौराणिक कहानियों से भिन्न नहीं था।

इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' प्रयोगात्मक रूप में लिखी गई थी, जिसमें कलात्मक दृष्टि से कहानी के विधान का कोई भी रूप नहीं मिलता। 'हिंदी कहानी को सम्यक् शैली की ओर प्रेरित करने का श्रेय भारतेंदु युग को है। यह युग पत्रकारिता के आरंभ का युग था और तत्कालीन समाज को इस ओर आकर्षित करने के लिए इस युग में मुख्यतः मनोरंजक शैलियों को अपनाया गया, जिनके क्रोड़ में कहानी-कला के बीज निश्चित रूप से आये।' 16/5

भारतेंदु युग में विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती थीं, जिनमें मुख्यतः लेख होते थे किंतु ये लेख कहानी जितने ही संवेदनशील हुआ करते थे और कहीं न कहीं कहानी के निकट भी थे। ये लेख उद्देश्यमूलक होते थे। इनकी शैली इतनी मनोरंजक तथा कलात्मक थी कि जनमानस पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा था। शनैः शनैः विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों तथा प्रयोगों से कहानी कला का सूत्रपात हुआ। कहानी को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के कलात्मक प्रयोग किये गये।

प्रेमचंद ने अपनी कहानी कला में भाषा, चरित्र, कथानक, वातावरण आदि के माध्यम से जीवन के नग्न यथार्थ को उद्घाटित किया है, इनकी अधिकांश कहानियों का यही रूप है, जो आज भी प्रतिष्ठित है। प्रेमचंद मर्मस्पर्शी वर्णन शैली, मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण, सरल-सहज, भाषा, सूक्ष्म दृष्टि, कठोर यथार्थवाद और स्पष्ट उद्देश्य के माध्यम से कहानी के कलापक्ष को सुदृढ़ बनाते हैं।

जयशंकर प्रसाद की कहानियां भावप्रधान हैं। उनमें भारतीय संस्कृति की आदर्शवादिता भी है। यद्यपि उन्होंने भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को अपनी कहानी का आधार बनाया किंतु उनका पोषण भावना के स्तर पर किया। उनकी कहानियों में प्रेम, सौंदर्य, करुणा, बलिदान आदि के दर्शन होते हैं।

प्रेमचंद की भांति प्रसाद ने नग्न यथार्थ को नहीं खड़ा किया बल्कि यथार्थ में आदर्श की स्थापना कर उसे भावनापरक बना दिया। 'सालवती' कहानी में उन्होंने 'कुलवधुओं' की समस्या को बड़ी कलात्मकता के साथ उठाया है और बड़ी सुंदरता से समस्या का निराकरण किया है। कुलवधुओं की समस्या एक ऐसा कटु यथार्थ है, जिससे कोई मुंह नहीं मोड़ सकता। प्रसाद जी उसे सिर्फ उठाते ही नहीं बल्कि उसमें आदर्श को भी स्थापित करते हैं। उनकी 'विराम चिह्न' कहानी तत्कालीन समाज में व्याप्त छूआछूत जैसी कुप्रथा की कहानी है, जिसमें गरीब अछूत विद्रोह करता है और सैकड़ों अछूतों के साथ मंदिर में प्रवेश करने को तत्पर हो जाता है। भीतर प्रवेश करने से पूर्व ही वह चोट खाकर मूर्च्छित हो गिर जाता है और अंततः बूढ़ी स्त्री उसे मंदिर की देहली तक ले जाती है। कहानी का अंत बहुत मर्मस्पर्शी बन पड़ा है- 'राधे का शव देहली के समीप रख दिया गया। बुढ़िया ने देहली पर सिर झुकाया, पर बहू सिर उठा न सकी। मंदिर में घुसने वाले अछूतों के आगे बुढ़िया विराम चिह्न सी खड़ी थी।' 21/6

प्रसाद ने कहानी को पूरी नाटकीयता प्रदान की है। प्रसाद के कहानी साहित्य में शैली, भाषा और वर्णन, सभी कुछ कलात्मक ढंग से प्रस्तुत हुए हैं। इनकी कहानी कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह वस्तु प्रधान न होकर भाव प्रधान होती है।

प्रसाद का कथा शिल्प विशिष्ट है। शिल्प के विषय में क्रोचे ने कहा है- 'कृतिकार के मानस

पर जो प्रभाव पड़ता है वही अभिव्यंजना के रूप में अधिक परिशुद्ध, प्रांजल और नवीन ताजगी से भरकर प्रकट होता है। इस प्रकार रूप या शिल्प अथवा सौंदर्य विधान ही कला विषयक तत्व हैं।^{127/7}

प्रसाद की कहानियों, काव्य नाटक और उपन्यासों आदि में नया भावबोध और नयी कला दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। उनकी प्रत्येक कहानी एक दूसरे से अलग है जिसमें भिन्न संवेदना, भिन्न मूल्य और भिन्न शैली मिलती है।

प्रसाद की कहानियों का समय 1911 से 1937 ई० तक फैला है। कथा शिल्प की दृष्टि से इनकी कहानियों को तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम काल 1911 से 1922 का है जिसमें इनके 'काया' तथा 'प्रतिध्वनि' कहानी संग्रह आए। इस काल की कहानियां भावुकता से ओतप्रोत थीं। द्वितीय काल 1923 से 1929 तक का है, जिसमें 'आकाशदीप' और 'आंधी' कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। इस समय की कहानियां अधिक यथार्थवादी हैं। तृतीय काल 1930 से 1937 तक का है, जिसमें 'इन्द्रजाल' कहानी संग्रह सामने आता है।

प्रसाद के इन पांचों कहानी संग्रहों की कहानियों के स्वरूप में अंतर है। शिल्प की दृष्टि से इस समय तक कहानी में बहुत परिवर्तन आ चुका था। प्रेमचन्द तथा प्रसाद की कहानियों का शिल्प बिल्कुल बदल चुका था। प्रेमचन्द यथार्थवादी कहानीकार थे। वे कहानी के माध्यम से सामाजिक समस्याओं से जुड़ी घटनाओं को स्पष्ट तौर से सामने रखते थे किंतु प्रसाद की कहानियों में जो रागात्मक वृत्ति रही है, वह दुर्लभ है। अर्थपूर्ण संकेतों के माध्यम से वे पूरी कहानी के कलात्मक रूप को उभारते हैं। उनकी भाषा सांकेतिक है। प्रेमचन्द की भांति वे बात को सीधे सपाट तरीके से न कहकर संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से कहते हैं। लगभग सभी संग्रहों की कहानियों में वाक्य बहुत बड़े-बड़े नहीं हैं। इनके छोटे-छोटे वाक्यों में व्यापक अर्थ छिपे रहते हैं। यद्यपि शुरू की कहानियां छोटी-छोटी हैं, पर वे भी बहुत बड़े उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। मूलतः कवि होने के कारण भावों तथा अनुभूति का केंद्रीकरण तो इनकी कहानियों की मुख्य विशेषता है ही। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार- 'प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' से लेकर उनकी अंतिम कहानी 'सालवती' तक कहानियों की शिल्पविधि में वस्तुतः उतने मोड़ नहीं हैं जितने उनके भाव-पक्ष में। सच तो यह है कि प्रसाद की कहानियां अपेक्षाकृत शिल्पविधि प्रधान नहीं हैं, भावप्रधान हैं और हिंदी कहानी साहित्य में केवल प्रसाद जी एक ऐसे कहानीकार हैं जिनकी कहानी भावों की अनुवर्तिनी रही है, शिल्पविधि की अनुवर्तिनी नहीं।^{28/8}

उनकी प्रथम काल की कहानियों में एक प्रकार की संवेदना, चिंतनशीलता और प्रवाह देखने में आता है। इन कहानियों में प्रेम, करुणा, वीरता और अहिंसा आदि मूल्यों को प्रतिष्ठित किया गया है। इन संग्रहों की कुछ कहानियां ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की हैं, जैसे अशोक, सिंकदर की शपथ, जहांआरा और चक्रवर्ती का स्तंभ आदि किन्तु ये कहानियां भी भावुकता से परिपूर्ण हैं। इस संग्रह की 'ग्राम' कहानी भिन्न है, जो ग्रामीण परिवेश को रूपायित करती है। ग्राम कहानी का प्रारंभ प्रकृति वर्णन के साथ होता है। श्रावण मास की संध्या भी कैसी मनोहारिणी होती है। मेघमाला विभूषित गगन छाया रसाल कानों में पड़ रही है। कहानी मात्रा इतनी ही है कि जमींदार, मोहनलाल अपने गांव में आता है। वह वहां काफी अंतराल के पश्चात आया है। फलस्वरूप राह भटक गया और संयोग से जिस स्त्री के घर में शरण लेता है, वही स्त्री उसे बताती है कि किस प्रकार उसके पिता की संपत्ति

हड़प कर मोहन लाल का पिता जमींदार बना। यह सुनकर मोहन लाल लज्जित हो उठता है। कहानी में मानसिक उद्वेगन के साथ-साथ एक व्यंग्यात्मक प्रश्नचिह्न भी है। कहानी ग्रामीण परिवेश में जमींदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण और महाजनों के अत्याचार को चित्रित करती है। 'छाया (1913 ई.) हिंदी का पहला कहानी संग्रह है और 'ग्राम हिंदी की पहली आधुनिक कहानी क्योंकि शिल्प और अंतर्वस्तु दोनों ही दृष्टियों से यह एक भिन्न दिशा का संकेत करती है।' 29/9

प्रसाद मूलतः भावना के कहानीकार हैं। वे किसी एक विचार को लेकर पूरी कहानी को बुनते हैं। 'करुणा की विजय', 'गूदड़ साई' और 'कलावती की शिक्षा' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। 'कलावती की शिक्षा', 'सहयोग' आदि कहानियों में नारी के प्रति पुरुष के तिरस्कार की दृष्टि और अंत में हृदय परिवर्तन का वर्णन किया गया है। 'कलावती की शिक्षा' में एक विचार को कहानी में गूँथ दिया गया है- 'कलावती श्याम सुंदर की पत्नी है। श्यामसुंदर पढ़ा लिखा युवक है तथा पत्नी के प्रति उपेक्षा भाव रखता है। कलावती समझती है तथा पुतली को शिक्षा देती है- 'पुतली तुमने रूप परिवर्तन भी छोड़ दिया है यह और भी बुरा है। सोने के कोर की साड़ी तुम्हारे मस्तक को भी अभी ढंके हैं, तनिक इसको खिसका दो। बालों को लहरा दो। लोग लगे पैर चूमने, प्यारी पुतली, समझी न।' 30/10 कहानी का पूरा उद्देश्य इतने में ही निहित है। किंतु कहानी भावुकता के साथ वर्णित होकर व्यापक हो गयी है। इसी प्रकार 'करुणा की विजय' कहानी है, जो एक गद्यगीत की भाँति है। एक सूक्ष्म से भाव को कहानी के रूप में ढाल दिया गया है। कहानी में प्रतीक चरित्रों, करुणा और दरिद्रता का आधार लिया गया है। कहानी की शुरूआत ही कारुणिक है। मोहन अनाथ है। तथा अपनी तीन वर्षीय बहन की जिम्मेदारी संभालने के लिए विवश है। तेरह वर्ष का निरीह बालक अपनी बहन को भूखा नहीं देख सकता। स्वाभिमानी बालक भीख नहीं मांगना चाहता। अतः बहन को ही कुएं में धकेल देता है। उसके मन का अंतर्द्वंद्व कहानी के प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट होता है। अंततः करुणा की विजय होती है। कहानी के माध्यम से ही प्रसाद जी उद्देश्य भी स्पष्ट करते हैं- 'नगर के व्यवस्थापक पर इसका दायित्व है कि तीन वर्ष की रामकली तुम्हारे हाथ में क्यों दी गयी। यदि कोई उत्तराधिकारी विहीन धनी मर जाता है, तो व्यवस्थापक नगर-पिता उसके धन को अपने कोष में रखवा लेते हैं। यदि निर्बोध उत्तराधिकारी रहता तो उसकी संपत्ति सुरक्षित करने की वह व्यवस्था करते। किंतु असहाय, निर्धन और अभिमानी तथा निर्बोध बालक के हाथ में शिशु का भार रख देना राष्ट्र के शुभ उद्देश्य की गुप्त रीति से और शिशु की प्रकट हत्या करना है।' 31/11

कहानी का अंत निष्कर्षात्मक है। प्राचीन लोककथाओं में भी कहानी के अंत में एक नीति को स्पष्ट कर दिया जाता था पर उसमें बिंबों, प्रतीकों का आश्रय नहीं लिया जाता था। 'छाया' तथा 'प्रतिध्वनि' दोनों कहानी संग्रहों की अधिकांश कहानियाँ गद्यगीत की भाँति हैं।

प्रसाद ने 'अघोरी का मोह' कहानी में अलग प्रकार की तकनीक अपनायी है। वे कहानी को सोपान दर सोपान न बढ़ा कर एक लंबे कालखंड में खींचते हैं। 25 वर्ष पहले के रहस्य का उद्घाटन वे 25 वर्ष पश्चात् करते हैं। 'अघोरी का मोह' कहानी में किशोर व ललित दोनों गंगा में नौकाविहार के लिए निकले हैं। किशोर गरीब है, ललित से छोटा है तथा ललित के सम्पन्न होते हुए भी उसके दुःख को समझने में पूर्णतः असमर्थ है। ललित द्वारा सूखी रोटी मांगने पर वह विस्मित होता है। किशोर द्वारा स्वीकार कर लेने पर ललित आँख बंद कर लेता है। प्रथम कालखंड यहीं समाप्त हो

जाता है। द्वितीय कालखंड एक लंबे अंतराल, 25 वर्ष के पश्चात् शुरू होता है। दूसरे कालखंड में भी कहानी खंड-खंड में ही चलती है, जिसमें पहले खंड में अघोरी का वर्णन है। दूसरे खंड में किशोर अपनी पत्नी व बच्चों के साथ बजरे पर बैठा जल विहार कर रहा है तथा तीसरे खंड में अघोरी से किशोर तथा उसके परिवार की प्रत्यक्ष भेंट होती है। संयोग से किशोर की पत्नी अघोरी को 'सूखे पराठे' देती है। अघोरी प्रसन्न है। अघोरी और कोई नहीं, पच्चीस वर्ष पूर्व का ललित ही है और अनजाने ही किशोर द्वारा 'सूखी रोटी' खिलाने का वचन भी पूरा हो जाता है।

कहानी के अंत को स्पष्ट करने के बाद भी लेखक उसे अस्पष्ट सा छोड़ देता है। अर्थपूर्ण संकेतों से बात पाठकों तक तो संप्रेषित हो जाती है किंतु कहानी का नायक स्वयं असमंजस में है- 'नाव नगर की ओर चली। किंतु किशोर का हृदय भारी हो गया था। वह बहुत विचारते थे किंतु वह ध्यान में नहीं आती थी- उनके हृदय में कोई भूली हुई बात चिकोटी काटती थी, किंतु वह विवश थे। उन्हें स्मरण नहीं होता था।' 32/12

'छाया' संग्रह की 'मदन मृणालिनी' कहानी अन्य कहानियों की अपेक्षा लंबी है। कहानी की शुरुआत बिना किसी नाटकीयता से सहज ढंग से की गयी है। कहानी में मात्र एक घटना है। कहानी के प्रथम अंश में ही 'मदन' कहानी के नायक का सीधा-सपाट परिचय दिया गया है किस प्रकार वह डर कर घर से भागा है और पुत्रा-विछोह में माता सदैव के लिए परलोक सिधार जाती है। शुरू से अंत तक नायक अनेक प्रकार के अंतर्द्वंद्वों से घिरा है। वह भागता ही रहता है। उसके अंतर्द्वंद्वों से ही प्रसाद जी कहानी में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों को प्रदर्शित करते हैं- 'कहां हम युक्तप्रांत निवासी अन्य जातीय और कहां ये बंगाली ब्राह्मण, फिर ब्याह किस तरह हो सकता है? क्या मैं इनके साथ धर्म नष्ट करूंगा?' 34/13

जाति भेद का यह रूप उन्होंने अत्यंत कलात्मकता से उभारा है। इसका अंत 'चंदा' और 'अघोरी का मोह' आदि कहानियों से भिन्न है। यहां न प्रतिशोध है, न असंप्रेषणीयता। यहां नायक एक ओर तो धर्म पर अंधविश्वास रखता है और अपने प्रेम को धर्म के नाम पर समर्पित कर देता है, किंतु दूसरी ओर उसी प्रेम के लिए अपनी समस्त संपत्ति न्यौछावर कर अन्यत्र चला जाता है। उसका प्रेम बड़ा जटिल है, जिसे वह न स्वीकारता है न अस्वीकार कर पाता है। छोटे से वाक्य के साथ प्रसाद जी कहानी का अंत करते हैं-

'मृणालिनी ने देखा कि बीच में अगाध समुद्र है।' यह छोटा सा वाक्य अपने आप में व्यापक अर्थ समेटे हुए है, जिसमें मृणालिनी की मनःस्थिति का भी बोध होता है और मदन और उसके बीच की दूरी का भी।

प्रसाद के इन दोनों ही संग्रहों में ऐतिहासिक कहानियां भी हैं। 'छाया' संग्रह की कहानियां हैं- 'सिकन्दर की शपथ', 'जहांआरा', 'अशोक', 'चित्तौर उद्धार' आदि। ये कहानियां गद्यकाव्य जैसी नहीं हैं। इन कहानियों में एकसूत्रता है। प्रारंभ से अंत तक कहानी धीरे-धीरे विकसित होती है और समाप्त हो जाती है। ये कहानियां निश्चित संवेदना या विषय को लेकर लिखी गई हैं। इन कहानियों के चरित्रों का व्यक्तित्व अत्यधिक संवेदनशील, मानवीय गुणों से युक्त, और कर्तव्यमय है। प्रसाद की कहानियों के स्त्री चरित्र अत्यंत सौंदर्यशाली हैं। वे बड़ी भावुकता से चरित्रों का वर्णन करते हैं।

प्रसाद की कहानियों के नायक भी कर्तव्यपरायण, त्याग की भावना से युक्त, भावुक तथा प्रेमी

हैं। कहीं-कहीं ये पात्र अंतर्मुखी भी हैं जैसे 'रसिया बालम' और 'तानसेन' का नायक। 'रसिया बालम' का नायक इतना भावुक है कि वह अपने खून से राजकुमारी को पत्र लिखता है। वह उसके लिए सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए तत्पर है। अंततः वह अपना जीवन भी समाप्त कर डालता है। प्रसाद की शुरु की कहानियों के अधिकांश पात्र अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ उभरकर नहीं आते, क्योंकि कहानियों की भूमि मुख्यतः भावना और कल्पना के आधार पर निर्मित हुई है।

कथोपकथन कहानी का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रसाद जी की कहानियों में कथोपकथन बड़े कलात्मक है। अधिकांश कहानियों में मनोभावों के संकेतों के माध्यम से बात कही गयी है।

प्रसाद की कहानियों पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव भी था इसीलिए उनकी कहानियों में सत्यता, करुणा और त्याग आदि की भावना प्रचुर मात्रा में है। कवि हृदय कहानीकार प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियां भी यथार्थ के उद्घाटन के रूप में सामने नहीं आतीं, बल्कि मानव हृदय की अभिव्यक्ति के रूप में उभरती हैं।

द्वितीय काल का कहानी संग्रह है 'आकाशदीप' जो 1929 में प्रकाशित हुआ। 'इस समय की कहानियों में परिपक्वता की स्पष्ट झलक दिखती है, जो पूर्व के कहानी संग्रह में अस्पष्ट सी थी। कहानी में वर्णनात्मक क्षमता तथा सामाजिक प्रश्नों के ऐतिहासिक सांस्कृतिक उत्तर उनकी परवर्ती कहानियों में यथार्थ के उद्घाटन के रूप में नहीं, बल्कि मानव मन की उस स्थिति को अभिव्यक्त करने के रूप में आए हैं, जो प्रसाद के अनुसार बाह्य का हेतु है।' 40/14

इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में गंभीर प्रेम की अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। संग्रह की आकाशदीप, ममता, तथा स्वर्ग के खंडहर ऐतिहासिक कथानक के धरातल पर लिखी गयी कहानियां हैं तथा हिमालय के पथिक, कला, समुद्र संतरण और वैरागी आदि कहानियों में पुनः 'छाया' की कहानियों के दर्शन होते हैं। ये कहानियां भी गद्यगीतों की भांति ही हैं, जिनमें उत्कृष्ट भावुकता दिखायी देती है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार आकाशदीप की समग्र कहानियों में दो दिशाएं आई हैं। 'छाया' के विकास क्रम की दिशा में आने वाली कहानियां कहानी शिल्पविधि की दृष्टि से उत्कृष्ट हुई हैं और प्रतिध्वनि के विकासक्रम में आने वाली कहानियां साधारण ही रह गई हैं। यद्यपि पहले की अपेक्षा कहानी के तत्व अधिक आए हैं और उनकी संपूर्ण कला में विकास हुआ है।' 41/15

'आकाशदीप' की कहानियां रूप एवं वस्तुविधान में पूर्व के कथा संग्रहों की कहानियों से सामंजस्य रखती हैं लेकिन इनकी कलात्मकता पूर्व की कहानियों से सर्वथा भिन्न है। इस काल की कहानियों में जहां, प्राचीन के प्रति प्रेम तथा उस काल को महिमामंडित किया गया है, वहीं वर्तमान के प्रति असह्य पीड़ा भी है। अधिकांश कहानियों की आधारभूमि प्रेम है जो किसी न किसी रूप में इनकी कहानियों में अंकित है।

'आकाशदीप' कहानी संग्रह की कहानियों में कहीं न कहीं नाटकीयता के तत्व भी परिलक्षित होते हैं, जो शिल्प की दृष्टि से कहानी को अधिक समृद्ध करते हैं। उनकी 'कला' कहानी तो संपूर्णतः रंगमंचीय दृश्य ही उपस्थित कर देती है। यथा- 'रंगशाला के विशिष्ट मंच पर संपन्न चित्रकार रूपनाथ, ठाटबाट से बैठा है। धनी, शिक्षित और अधिकारी लोग अपने आसनों पर जमे हैं। वीणा और मृदंग की मधुर ध्वनि के साथ अभिनेत्री ने यवनिका उठते ही पदार्पण किया। नूपुर की झनकारों की लहर-ठहर कर उठने लगी।' 42/16

कहीं-कहीं अत्यधिक भावुकता को भी वे नाटकीयता के साथ उभारते हैं जैसे 'अपराधी' कहानी के अंत में कहानी संवेदना से भर उठती है और सहसा ही संवादों सेवातावरण में नाटकीयता उत्पन्न हो जाती है। जिस नाटकीयता से पूरी कहानी को प्रसाद ने प्रस्तुत किया है, उसकी रहस्यमयता का पटाक्षेप भी अंत में नाटकीयता से ही हुआ है। कहानी में राजकुमार मालिन पर आसक्त हो जाते हैं और उससे प्रणय निवेदन करते हैं। राजा का पद पा जाने पर वे अपने पुत्र की मृगया परीक्षा लेने के लिए उसी जंगल में आते हैं। संयोगवश मालिन के पुत्र किशोर का तीर राजपुत्र की छाती में घुस जाता है। राजा क्रोध में उन्मत्त हो प्रतिहिंसा पर उतारू हो जाते हैं। उन्होंने किशोर को मारने का हुक्म दे दिया। मृतक किशोर की मां को देख राजा विस्मित रह गए। यह वही वन पालिका थी और मृतक उनका अपना ही पुत्र था।

प्रसाद की शैली ऐसी है कि जिस संवेदना को वे स्वयं महसूस करते हैं ठीक वैसी ही अनुभूति पाठक को भी कराते हैं। अपनी बात को वे इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं कि पूरा दृश्य ही उसके अनुकूल जीवंत हो उठता है। उसकी संवेदना और मार्मिकता हृदय में उतरती चली जाती है- 'उसकी निश्चेष्ट आँखें मौन भाषा में जैसे मां-मां कह रही थीं। उसने हृदय में घुस जाने वाली आँखों से एक बार राजा की ओर देखा और देखा - राजपुत्र का शव।'

बनजारा कहानी का प्रारंभ भी इसी प्रकार के वर्णन से हुआ है। इसमें प्रकृति चित्रण तथा बनजारों का जीवन द्रष्टव्य है- 'वे बनजारे थे। उनका काम था सरगुजा तक के जंगलों में जाकर व्यापार की वस्तु क्रय-विक्रय करना। प्रायः घर बार छोड़कर वे आठ महीने यही उद्यम करते।'

कहानी को क्रमशः इसी प्रकार बढ़ाते हुए प्रसाद कहानी की मूल समस्या तक पहुंचते हैं तथा संवादों द्वारा अन्तर्द्वन्द्व की चरम स्थिति में पहुंचा कहानी को समाप्त कर देते हैं। इससे कहानी के शिल्प में निखार आ गया है।

लंबी कहानियों के कथानकों में प्रसाद कलात्मक सौंदर्य को उभारते हैं। यद्यपि लंबी कहानियों में बहुत से प्रसंग उभरकर आते हैं किंतु उनकी एकसूत्रता कहीं भंग होती नहीं दिखती। कहानी अबाध गति से आगे बढ़ती जाती है। 'आकाशदीप' लंबी कहानी है किंतु कहानी का आकर्षण और उसकी संवेदना निखरती जाती है। यद्यपि कहानी का कथानक इतना ही है कि एक नाव में चंपा और बुधगुप्त दो बंदी हैं। थोड़े प्रयास के बाद वे मुक्त हो जाते हैं। अभी तक दोनों एक-दूसरे से अनभिज्ञ थे। किंतु शनैः शनैः वे एक-दूसरे के प्रति आसक्त हो उठते हैं लेकिन चंपा को जैसे ही पता चलता है कि बुधगुप्त उसके पिता का हत्यारा है वह गहरे अंतर्द्वन्द्व में फंस जाती है। बुधगुप्त चेष्टापूर्वक चंपा को समझाता है, किंतु प्रेम और घृणा के अंतर्द्वन्द्व में भटकती चंपा अंततः बुधगुप्त के प्रेम को ठुकरा देती है और बुधगुप्त अकेले ही भारत लौट आता है। इतनी सी कहानी में अनेक प्रसंग जुड़ते चले गये हैं जैसे चंपा नगर में कन्या चंपा रहती थी। उसके पिता मणिभद्र के प्रहरी थे किंतु पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वे चंपा को अपने साथ ही रखने लगे। चंपा के पिता दस्युओं के आक्रमण में मारे गये तथा चंपा को मणिभद्र ने बंदी बना लिया। इन प्रसंगों में प्रेम भी है, करुणा भी है, घात-प्रतिघात भी है तथा गहरा अंतर्द्वन्द्व भी है। चंपा बुधगुप्त से प्रेम और घृणा के विरोधाभास में फंसी है। उसके अंतर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति इस उदाहरण से स्पष्ट होती है- 'मैं तुम्हें घृणा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूं। अंधेर है जलदस्यु। मैं तुम्हें प्यार करती हूं।' चंपा का यह

भाव संघर्ष उसे अंत तक चिन्तित व्याकुल तथा अनिश्चय की स्थिति में रखता है। हालांकि वह निर्णय भी करती है किंतु अनिर्णय ही सी स्थिति में रहती है। चंपा के अंतमन में प्रेम और कर्तव्य के लिए जो संघर्ष छिड़ा है, उस संवेदना को पाठक भी उसी गंभीरता से महसूस करता है। यह प्रसाद के शिल्प का ही कमाल है कि कौतूहल बना रहता है। प्रसाद जी कहानी को अनावश्यक रूप से विस्तृत नहीं करते। वे विषयानुरूप ही कथानक को सिकोड़ते या फैलाते हैं जिससे कहानी का आकर्षण बना रहता है।

‘ममता’ कहानी भी ऐसी ही है किंतु उसकी चिंतनशीलता दूसरे प्रकार की है। यह एक ऐतिहासिक कहानी है। ‘ममता’ अपना सम्पूर्ण जीवन त्याग और कर्तव्यनिष्ठा से व्यतीत करती है। ‘ममता’ की नायिका ममता भी आकाशदीप की नायिका की भांति अंतर्द्वंद्व से घिरी है... ‘परंतु यहां... नहीं-नहीं, ये सब विधर्मों दया के पात्र नहीं। परंतु यह दया तो नहीं... कर्तव्य करना है तब?’

किंतु ममता का संघर्ष चंपा के संघर्ष से हटकर है। चंपा अनिश्चय की स्थिति में अंत तक है किन्तु ममता नहीं। वह अपने धर्म की रक्षा के लिए पिता के हत्यारे को भी क्षमा कर देती है। कहानी के अंत में ब्यंग्य उभरता है, जो एक सामाजिक सच्चाई है।

ममता जिस स्थान पर पूरे जीवन एक मूल्य को पूर्ण निष्ठा के साथ प्रतिष्ठित करती रही, उस स्थान की महत्ता इस कारण न होकर इसलिए हुई कि वहां कभी हुमायूं नरेश ने विश्राम किया था। मानवीय मूल्य से सत्ता अधिक वजन रखती है, लेखक कहानी को इस मार्मिक तथा तीखे ब्यंग्य के साथ समाप्त करता है।

इसी संग्रह की देवदासी कहानी का शिल्प पृथक है। इसमें मानवतावादी दृष्टिकोण की सुंदर अभिव्यक्ति है। पूरी कहानी पत्रात्मक शैली में लिखी गयी है। इस कहानी में प्रकृति और परिस्थिति का सामंजस्य, काव्यात्मक भाव, मनोवैज्ञानिकता तथा अन्तर्द्वन्द्व सुंदर ढंग से उभरकर सामने आता है।

सुनहला सांप, हिमालय, पथिक, भिखारिन, कला, प्रतिध्वनि और रूप की छाया इनकी छोटी कहानियां हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी एक भावना, जो हृदय में उठी, को प्रसाद जी ने कहानी का रूप दे दिया। भावना का अतिरेक इन कहानियों को मादक बनाये हुए है। इन कहानियों में माधुर्य, कोमलता एवं स्निग्धता बराबर मिलती है।

प्रसाद के चरित्रों में जहां बौद्ध दार्शनिकता की प्रबलता दिखायी देती है वहीं कहीं-कहीं विरोध भी स्पष्ट झलकता है। उनके चरित्र हिंसा के प्रत्युत्तर में प्रेमभाव का विरोध करते दिखते हैं। वे धर्म की निष्क्रियता का विरोध करते हैं। ‘स्वर्ण के खंडहर’ कहानी में देवपाल कहता है- ‘प्राणी धर्म में मेरा अखंड विश्वास है। अपनी रक्षा करने के लिए, अपने प्रतिरोध के लिए जो स्वाभाविक जीवन तत्त्व के सिद्धांत की अवहेलना करके चुप बैठता है उसे मृतक, कायर, सजीवताहीन हड्डी-मांस के टुकड़े के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं समझता।’

इस तरह आकाशदीप की कहानियों के स्त्री और पुरुष चरित्र अपने-अपने अंतर्द्वन्द्वों के साथ मौन हैं। वे स्वयं का उद्घाटन बहुत कम करते हैं तथा अपने संघर्षों में जीते हैं।

तृतीय काल 1929 से 1936 तक का है, जिसमें प्रसाद जी ने ‘आंधी’ और ‘इंद्रजाल’ संग्रहों की कहानियां रचीं। यह लेखक का चरमोत्कर्ष-काल था। इस काल के अंतर्गत उन्होंने पहले की

अपेक्षा अधिक कहानियां लिखीं जो पूर्व के संग्रहों की कहानियों की तुलना में भिन्न हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन के भिन्न पक्षों को दिखाया है और भिन्न परिस्थितियों को जिया है। पहले की कल्पना की उड़ान और सरल भावुकता इस काल की कहानियों में यथार्थ की ठोस भावभूमि बनकर उभरी है। इस काल की कहानियों में 'जीवनदर्शन की पैठ और कलात्मक स्तर की ऊंचाई' 'दोनों का सुन्दर समन्वय दिखायी देता है।

इस काल की कहानियों के कथानकों में प्रसाद ने दो तरह की तकनीक का प्रयोग किया है। कुछ कहानियां विस्तृत हैं, जिनमें पूरा का पूरा एक युग समाया हुआ है। दूसरे प्रकार की कहानियां छोटी और कलात्मक हैं। इन कहानियों में मात्र अंतर्द्वन्द्व को ही चित्रित नहीं किया गया अपितु सामाजिक समस्याओं का समाधान भी किया गया है। अतीत के प्रति आसक्ति प्रसाद के इन कहानी संग्रहों में भी मिलती है। पुरस्कार, देवरथ, सालवती, गुंडा आदि कहानियां, ऐतिहासिक भावभूमि पर अवस्थित है किंतु अधिकांश कहानियां वर्तमान की यथास्थिति का वर्णन करती हैं। आंधी कहानी प्रेम पर आधारित है जिसमें लैला रामेश्वर से प्रेम करती है। प्रेम कहां शुरू हुआ, रामेश्वर लैला से कहां मिला आदि बातें कहानी में स्पष्ट तौर से नहीं कही गयी हैं किंतु कहानी के विकास के साथ-साथ लैला, लैला का व्यवसाय, रामेश्वर, उसका परिवार, श्रीनाथ, कलुआ आदि के विषय द्वारा सब कुछ स्पष्ट होता जाता है। कथानक बिना किसी उतार चढ़ाव के शुरू होता है और समाप्त हो जाता है। लैला के प्रेम के साथ खानाबदोशों के जीवन के विषय में भी पता चलता है। रामेश्वर के माध्यम से सामान्य स्तर के परिवार में होने वाली परेशानियों का वर्णन मिलता है। कलुआ के माध्यम से दीनता और विवशता का जीवंत चित्रण इस कहानी में दिखायी देता है। कहानी मुख्यतः लैला के प्रेम, उसके त्याग और अंततः उसके बलिदान की है किंतु जो कथासूत्र जुड़ते चले जाते हैं वे कहानी को आकर्षक और कलात्मक बना देते हैं।

'इन्द्रजाल' की अंतिम कहानी 'सालवती' एक लंबी कहानी है, जिसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, किंतु बड़ी कलात्मकता के साथ वर्तमान जीवन की ज्वलंत समस्याओं को भी छूती है। 'सालवती' कहानी स्वयं में एक पूरा युग है। समाज में वज्जियों की मर्यादा, सालवती एवं उसके पिता का दयनीय स्थिति में भी आत्माभिमान द्वंद्व, प्रेम, समाज से विद्रोह टकराव, युद्ध अपने स्वार्थ के लिए नवजातपुत्र की उपेक्षा, समस्याएं एवं उनका समाधान इन सब का प्रतिनिधित्व करती है सालवती। कहानी में भिन्न-भिन्न कथासूत्र आपस में पिरोये गये हैं जो प्रासंगिक हैं। कहीं भी कहानी टूटती नहीं है। आठ वर्ष पश्चात् सालवती अभय से मिलती है तब भी पूर्ण आकर्षण बना रहता है। अंत में उपेक्षित सालवती को जो कुलवधू बनाने जैसी कुप्रथा का विरोध करती है, उचित सम्मान तथा उसके द्वारा छोड़ गये पुत्र को पिता का रूप में अभय प्राप्त होता है। अन्य कुलवधुओं को पत्नी के रूप में सम्मान देने का साहसिक और सराहनीय कार्य कुल पुत्रों द्वारा किया जाता है। प्रसाद जी कहानी के अंत में उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। यह प्रसाद के कथा शिल्प की विशेषता है, जो अनेक सूत्रों को बड़ी कलात्मकता के साथ जोड़ते हैं तथा कहानी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं।

'आंधी' संग्रह की 'मधुआ' कहानी में प्रसाद सामाजिक अर्थव्यवस्था की असमानता को बड़े ही यथार्थवादी ढंग से व्यक्त करते हैं कि विभिन्न परेशानियों से घिरा और विभिन्न व्यसनों से आक्रांत शोषित वर्ग किस प्रकार अपना जीवनयापन करता है। 'मधुआ' कहानी का नायक इसका प्रतिनिधित्व

करता है। शोषक वर्ग कितना क्रूर और स्वार्थी है, जिसमें संवेदना लगभग नहीं के बराबर है, का वर्णन भी सहजता से हुआ है। यह प्रसाद जी की कलात्मक क्षमता ही है कि वे एक व्यक्ति जिसमें सरलता भी है, सहानुभूति भी, कठोरता भी और जो शराबी भी है, इन सारी संवेदनाओं को एक साथ जोड़कर उससे एक संपूर्ण चरित्र बना देते हैं।

‘इन्द्रजाल’ और ‘आंधी’, इन दोनों संग्रहों की कहानियों में प्रसाद ने यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ रोमानी प्रवृत्ति का अंकन भी किया है। उनकी ‘नीरा’ कहानी में बूढ़ा एक विशेष दीनहीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक असमानता तथा आर्थिक विपन्नताग्रस्त होकर कुलीनता के आवरण में लिपटे अत्यंत क्षुद्र मानसिकता के लोगों के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है। जहां पूरी कहानी आलोचना और आक्रोश से बंधी है, वहीं नीरा के सौंदर्य का वर्णन करने में लेखक नहीं चूकता। कलात्मकता और शिल्प की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कहानी है।

‘इन्द्रजाल’ में संग्रहित ‘सलीम’ कहानी में लेखक ने सांप्रदायिकता जैसी संकीर्ण मानसिकता को परे रख कर मानव का मानव के प्रति प्रेम प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। लेखक का मत है- ‘मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है, जहां वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य, मनुष्य के लिए प्यार करता है।’ 48/17

आंधी और इन्द्रजाल की अधिकांश कहानियों का आरंभ तथा विकास किसी न किसी समस्या के साथ ही हुआ है। पूरी कहानी उसी समस्या के इर्द-गिर्द घूमती हुई अंततः लक्ष्य बिंदु तक पहुंचती है।

इन संग्रहों के पुरुष तथा नारी पात्र, दोनों ही पहले की अपेक्षा यथार्थवादी हैं। परिस्थितियों के समय विवश मनुष्य किस प्रकार सम्पूर्ण मानवीय मूल्यों के प्रति अनास्था दिखाकर विद्रोही हो जाता है। इस प्रकार का सजीव चित्रण ‘नीरा’ कहानी में बूढ़े के चरित्र में स्पष्ट दिखता है। छोटा जादूगर कहानी का छोटा बालक एक ऐसा निर्मम यथार्थ है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। उनके नारी पात्र जहां यथार्थवादी हैं, वहीं आदर्शवादी भी। सालवती कहानी की सालवती एक ऐसा आदर्श चरित्र है, जो अपनी गरिमा को अंत तक बनाये रखती है।

प्रसाद की एक अन्य प्रसिद्ध कहानी है ‘गुंडा’। इस कहानी का पात्र ननकू सिंह ऐसा पुरुष पात्र है, जो न केवल अपने दायित्व का निर्वाह करता है बल्कि स्वयं को एक संपूर्ण पुरुष के रूप में कहानी में प्रतिष्ठित करता है। वह वीर पुरुष है और तब तक तलवार चलाता है जब तक उसके शरीर का एक-एक अंग कटकर जमीन पर नहीं गिर जाता।

प्रसाद ने कुछ कहानियों में प्रारंभ में प्रथम पुरुष शैली को अपनाया है। ऐसी कहानियों की शुरुआत ‘मैं’ के साथ होती है यथा- ‘मैं रंगमहल का कर्मचारी था। उन दिनों मुझे विंध्य शैल माला के एक उजाड़ स्थान में सरकारी काम से जाना पड़ा।’ 49/18

जयशंकर प्रसाद के पात्र विभिन्न परिवेशों से आते हैं। उनका यथावत चित्रण कर प्रसाद वास्तविक स्थितियां निर्मित करने में सफल रहे हैं। स्पष्टतः प्रसाद का कथा शिल्प अनूठा है। वे कवि होने के साथ ही कहानीकार के रूप में अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

संदर्भ:

1. सिद्धांत और अध्ययन : बाबू गुलाबराय
2. अरस्तु का काव्यशास्त्र : भूमिका, पृ. 13
3. महाभारत : आदि पर्व - तृतीय अध्याय, पृ. 68
4. पंचतंत्र : मित्र भेद, वही, 37
5. हिंदी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ. 31
6. प्र. ग्रं., पृ. 367
7. ऐस्थेटिक्स : बेनडेटो क्रोचे, पृ. 15-16
8. हिंदी कहानियों की शिल्पविधिका का विकास, पृ. 135
9. प्रसाद ग्रंथावली भूमिका, पृ. 08
10. वही, पृ. 101
11. वही, पृ. 97
12. वही, पृ. 83
13. वही, पृ. 64
14. प्रसाद ग्रंथावली भूमिका, पृ. 10
15. हिंदी कहानियों की शिल्पविधियों का विकास, पृ. 134
16. प्र. ग्रं., पृ. 154
17. प्रसाद ग्रंथावली, पृ. 302
18. वही, पृ. 08



हिंदी कहानी : एक अंतर्यात्रा

बृजेन्द्र कुमार अग्निहोत्री

प्रत्येक युग में उस युग का कार्य करने वाले व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। इसी तरह वार्ताएं और वार्ताओं के समूह उत्पन्न होते हैं। एक समाज दूसरे समाज की कहानियों में भरे सयानेपन से जब ऊब जाता है अथवा एक समाज दूसरे के सयानेपन से बढ़कर अपने सयानेपन का दावा करता है और उस समाज की कहानियों को निष्प्रभावी सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। जैसे-जैसे कोई समाज नयी रुचि, नयी कल्पना और नए आदर्श धारण करता है, वैसे-वैसे पुरानी रुचि, पुरानी कल्पना और पुराने आदर्शों को छोड़ता जाता है। समाज के द्वारा इस प्रकार रुचि, कल्पना और आदर्शों को छोड़ने की अनेकानेक कहानियों में से अनेक कहानियां अभी भी हमारे समाज का अंग हैं। किसी भी रचना की सार्थकता तभी है, जब उसका सृजन सोद्देश्य किया जाए। 'कहानी' विधा पर भी यह तथ्य अक्षरशः सत्य है। जब तक कहानीकार के अंतस में 'कहानी' को सृजित करने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं होगा तब तक वह कहानी के चयन, उसकी कथा-वस्तु की क्रमबद्धता और अभिव्यक्ति को लेकर अनेक प्रकार की कठिनाईयों का अनुभव करेगा। 'कहानी' को सृजित करने के मुख्यतः पांच उद्देश्य हो सकते हैं- मनुष्य को आनंद प्रदान करना, मानव-जीवन में सकारात्मकता को प्रभावी करना, पाठकों या श्रोताओं की कल्पना-शक्ति को विकसित करना, भाषा एवं साहित्य को विकसित करना तथा संस्कृति एवं सभ्यता के प्रवाह को सुगम बनाना। हिंदी की आरंभिक कहानियों की संरचना के केंद्र में भाव या विचार दृष्टिगत होते हैं, जो प्रायः नैतिक होते हैं। यह नैतिक विचार या भाव ही कहानी की संरचना और शिल्प को नियंत्रित करता है। एडगर एलेन पो के शब्दों में इसे 'प्रभाव की अन्विति' कह सकते हैं।¹ कहानी सुनकर या पढ़कर मनुष्य आनंद का अनुभव करता है। जो कहानियां मनुष्य के मन में निराशा के भाव भर देती हैं, उन कहानियों का जीवन क्षणिक होता है। इसके विपरीत जो कहानियां लोगों के जीवन में आशा का संचार करती हैं अथवा जो लोग जीवन-संघर्ष से हार मान चुके होते हैं, उनको संघर्ष के लिए प्रेरित कर सच्चे मित्र की भूमिका का निर्वहन करती हैं, ऐसी कहानियां कालजयी होती हैं।

हिंदी गद्य के विकास की दृष्टि से आधुनिक काल में भारतेंदु-युग का महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदी गद्य के विविध रूपों में 'निबंध' इस समयावधि की प्रतिनिधि और केन्द्रीय विधा है, इसीलिए इस कालावधि को हिंदी साहित्येतिहास में 'हिंदी निबंध का स्वर्णयुग' कहकर अनेक विद्वान इसके महत्व को रेखांकित करते हैं। अपने शैलीगत-वैविध्य और रचना-वस्तु के आश्चर्यजनक विस्तार के कारण

जैसी प्रौढ़ता एवं तेजस्विता भारतेंदु-युग के निबंधों में दिखाई देती है, वैसी न तो भारतेंदु-युग के किसी अन्य गद्य-रूप में उपलब्ध है और न ही आगे के हिंदी निबंधों में दृष्टिगत होती है। हिंदी साहित्य में गद्य विधाओं के विकास की दृष्टि से 'कहानी' भारतेंदु युग की उपज उस रूप में नहीं है, जिस रूप में 'निबंध' और 'उपन्यास' जैसी विधाएं हैं। किंतु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि तद्युगीन निबंधों और अन्य गद्य विधाओं में जिन विभिन्न शैलियों का आविर्भाव हो रहा था, उनमें 'कहानी' के तत्व अवश्य सक्रिय थे, जो आगे चलकर हिंदी साहित्य में एक जीवंत विधा के रूप में 'कहानी' की उपस्थिति को संभव बनाते हैं। इन रचनाओं में कहीं प्रकृति-चित्रण के रूप में तो कहीं व्यक्तियों के संवादों और चारित्रिक विशेषताओं के उल्लेख द्वारा जिस रचना-रूप का आभास होता है, वह अपने विकसित रूप में 'कहानी' के निकट जान पड़ता है। इन्हीं रचनाओं में 'व्यंग्य' विधा की भूमिकाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें नव-निर्मित भाषा में वक्रता और व्यंजना ही दृष्टिगत नहीं होती, अपितु एक रणनीतिक कौशल भी दिखाई पड़ता है, जो अपने को कवच में संरक्षित रखकर आक्रमण के लिए तत्पर होता है। स्वप्न-चित्रों एवं यात्रा-वृत्तान्तों के रूप में लिखे गए निबंधों में भी 'कहानी' के आरंभिक उपकरणों को सक्रिय देखा जा सकता है। हिंदी साहित्य में गद्य-रूपों के इस अभिनव-त्वरिता और चमत्कृत कर देने वाले विकास के कारण ही मुंशी इंशा अल्लाह खां कृत 'रानी केतकी की कहानी' (सन 1808 ई.) हिंदी कहानी के रूप-निर्धारण की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखती। 'रानी केतकी की कहानी' अपनी रचना-वस्तु और संवेदना में भारतेंदुयुगीन हिंदी गद्य की संभावनाओं को पूर्णतः उपेक्षित करती हुई काव्य का गद्य रूपांतर मात्र प्रतीत होती है।

हिंदी कहानी के उद्भव की दृष्टि से सन 1900 ई. में प्रकाशित होने वाली हिंदी साहित्य की प्रमुख और महत्वपूर्ण पत्रिका 'सरस्वती' की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'सरस्वती' पत्रिका के जून, 1900 ई. के अंक में किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' को हिंदी खड़ी बोली की प्रथम कहानी होने का श्रेय प्राप्त हुआ, हालांकि बाद में अनेक विद्वानों ने इस कहानी पर किसी बांग्ला कहानी के साथ ही शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव मानते हुए इसे मौलिक कहानी के स्थान पर रूपांतर मात्र माना। माधवराव सप्रे कृत 'एक टोकरी भर मिट्टी' (सन 1901 ई.), लाला भगवानदास कृत 'प्लेग की चुड़ैल' (सन 1902 ई.), पं. गिरिजादत्त वाजपेयी कृत 'पंडित पंडितानी', आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' (सन 1903 ई.), लाला पार्वतीनंदन कृत 'बिजली' (सन 1904 ई.), 'मेरी चंपा' (सन 1905 ई.) और बंग महिला कृत 'दुलाई वाली' (सन 1907 ई.) इत्यादि हिंदी कहानियों को हम हिंदी साहित्य की आरंभिक कहानियां कह सकते हैं। हिंदी कहानी का उद्भव द्विवेदी युग से आरंभ होने के कारण हिंदी साहित्य में 'कहानी' विधा को अपनी आरंभिक अवस्था में समकालीन जीवन-चेतना के दबाव में नैतिक स्वर वाली पश्चिमी कहानियों और अपनी परंपरागत पुरानी कहानियों से जुड़ना ही था। जिसके परिणामस्वरूप हिंदी कहानी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में अपने अस्तित्व और प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही थी। तद्युगीन समय में सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से हिंदी कहानी को उपेक्षा का सामना करने के साथ किशोरों और युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था। शायद यही कारण रहा होगा, जिसकी वजह से राजबाला घोष और गिरिजाकुमार घोष आदि रचनाकारों को अपना वास्तविक नाम छिपाकर क्रमशः 'बंग महिला' और 'पार्वतीनंदन' जैसे छद्म नामों से कहानियां लिखनी पड़ीं। हिंदी साहित्य

में 'कहानी' विधा के विकास की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक का ऐतिहासिक महत्व है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से नीतिगत मतभेद होने के कारण सन 1909 ई. में वाराणसी से अंबिका प्रसाद गुप्त के संपादन में 'इंदु' नामक हिंदी पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। 'इंदु' पत्रिका के संपादक भले ही अंबिका प्रसाद गुप्त रहे, किंतु 'इंदु' पत्रिका में प्रमुख छायावादी रचनाकार जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इस पत्रिका के माध्यम से एक तरह से 'सरस्वती' पत्रिका का विरोधी मंच निर्मित हुआ जिसके परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य में कहानियों को कहानी की दो समानांतर धाराओं-समाजपरक यथार्थवादी कहानियों की धारा और भाववादी व्यक्तिवादी कहानियों की धारा, के रूप में रेखांकित करने की परिपाटी सी विकसित हो गयी। इस परिपाटी के अंतर्गत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगी रचनाकारों ने प्रेम को लगभग वर्जित क्षेत्र मानकर नैतिकता और सामाजिकता को प्रोत्साहित किया, इसके विपरीत जयशंकर प्रसाद और उनके सहयोगी लेखक आत्मपरक और व्यक्तिवादी रुझानों के प्रति आग्रहशील रहे। इन्हीं परिस्थितियों के मध्य सन 1915 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका में चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई और इसी वर्ष अपनी कहानी 'सौत' के 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशन के साथ प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आए। प्रेमचंद की ही तरह सामाजिक-पारिवारिक पृष्ठभूमि के साथ जो अन्य कहानीकार इस समयावधि में हिंदी साहित्य में सक्रिय थे, उनमें विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमण सिंह, पं. ज्वालादत्त शर्मा और सुदर्शन इत्यादि का नाम प्रमुख है।

'कहानी' में परिवेश (वातावरण और देश-काल) का महत्व अनेक दृष्टियों से होता है। परिवेश कथ्य को स्थान और समय की पृष्ठभूमि प्रदान करके उसके स्वरूप को मूर्तता प्रदान करके विश्वसनीय बनाता है। 'कहानी' में कभी कभी परिवेश कहानी के सर्जक-तत्व के रूप में भी काम करता है अर्थात् परिवेश कहानी का महत्वपूर्ण तत्व है, इसी के माध्यम से 'कहानी' को सार्थकता प्राप्त होती है। तत्कालीन परिवेश, दैवीय-विधान और संयोग के अतिरेकपूर्ण उपयोग के कारण इस समयावधि की अधिकांश कहानियों में कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक ढंग से नहीं हुआ है। परिवेश का अस्वाभाविक चित्रण, संयोगों की अधिकता और पात्रों की अति-आदर्शवादी परिणति, इन्हें विश्वसनीय रूप में हमारे सामने नहीं आने देती। जिसके कारण इस समय की कहानियों के पात्रों को सामान्य पाठक किसी अन्य दुनिया का प्राणी समझने लगता है लेकिन इस सारी पृष्ठभूमि और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नैतिक आग्रहों के बावजूद 'सरस्वती' पत्रिका में ही 'उसने कहा था' कहानी का प्रकाशन इस समूचे कालखंड की एक अद्भुत और चमत्कृत कर देने वाली घटना है। आज एक सौ दो वर्षों के उपरांत भी न सिर्फ इस कहानी की पठनीयता अक्षुण्ण और अप्रभावित रही है, अपितु अनेकानेक कारणों और दृष्टियों से 'उसने कहा था' कहानी का उल्लेख और मूल्यांकन किया जाता रहा है। 'उसने कहा था' प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी कहानी है, जो सन 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ होने के पश्चात् लिखी गयी। इस तरह अपने युग की महत्वपूर्ण घटनाओं को अंकित करने की चेतना की दृष्टि से तो इस कहानी का महत्व है ही, साथ ही प्रेम और कर्तव्य-बोध के मध्य लहना सिंह के चरित्र के विकास की दृष्टि से भी अपने समय की विकासशील कहानियों को यह कहानी बहुत पीछे छोड़ देती है। यद्यपि संयोग के तत्व इस कहानी में भी हैं, किंतु उसके उपयोग में वैसी स्थूलता और कृत्रिमता से इस कहानी में बचा गया है जो इस समय की

कहानियों की सामान्य पहचान है। वस्तुतः 'उसने कहा था' हिंदी साहित्य की पहली कहानी है जो शिल्प-विधान की दृष्टि से हिंदी कहानी को एक झटके में ही प्रौढ़ बना देती है।

हिंदी साहित्य में यह वह समय था जब कथा-सम्राट कहे जाने वाले प्रेमचंद उर्दू में 'सोजे वतन' की दुखद परिणति देख चुके थे। सन 1909 ई. में 'सोजे वतन' के प्रकाशनोपरांत प्रेमचंद पर 'सिडीशन' का आरोप लगाकर उनके इस संग्रह की समस्त प्रतियों को आग के सुपर्द कर दिया गया था। 'सोजे वतन' की पांच कहानियों में से चार- 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'शेख मखमूर', 'यही मेरा वतन है', 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम', भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित हैं और दूसरी सारी सांसारिक चीजों की अपेक्षा देशभक्ति के जज्बे को असाधारण गौरव और गरिमा देने की दिशा में संतरण दिखाई देती हैं। जिसकी परिणतिस्वरूप 'सोजे वतन' का अग्निदाह हुआ। संभवतः इसी कारण आगे के अनेक वर्षों तक प्रेमचंद घर-परिवार और अपने आसपास के सामाजिक जीवन की कहानियां लिखते दिखाई देते हैं। इस समय समाज में व्याप्त समस्त जीवन-विषमताओं के मूल में आर्थिक विषमताओं के दबाव से भावात्मक संबंध और जीवन-मूल्य आहत हो रहे थे। यह विषमता एक ओर- संपन्न वर्गों में एक नए प्रकार का अभिजात अहंकार पैदा करती है, जो सामंती परिवेश के जातिगत या शिक्षागत अहंकार को तोड़कर रौंदने का प्रयत्न कर रहा था। दूसरी ओर- विपन्न वर्ग अर्थाभाव के कारण अभावग्रस्त परिस्थितियों और संदर्भों से लड़ता-टूटता चला जाता है, और अपमानजनक परिस्थितियों के यथार्थ को भुगतता हुआ अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण करता है। तीसरी ओर- वे लोग हैं जो अर्थाभाव की स्थिति को बर्दाश्त करने के स्थान पर उससे निजात पाने के लिए बेईमानी से समझौता करते चलते हैं। प्रेमचंदयुगीन कहानियों में उपर्युक्त समकालीन सत्त्यों को उद्घाटित किया गया है। तद्रुयुगीन हिंदी कथा-साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इस समयावधि के अधिकांश रचनाकार भीतर से उच्च मानव-मूल्यों के समर्थक हैं, जिनमें प्रेम, सहानुभूति, त्याग, करुणा इत्यादि को उच्च स्थान दिया गया है, और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इन्हीं के अवलंबन से मानवीय समस्याओं का वास्तविक समाधान किया जा सकता है। इस समयवधि में सृजित अधिकांश कहानियों के अर्थमूलक संसार में अनेक तरह के पात्र और उनके माध्यम से अनेकों समस्याएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। इस कथा-संसार में उद्योगपति, सरकारी अधिकारी, जमींदार-सामंत, किसान-मजदूर, टूटते हुए रईस और तरह-तरह की समस्याओं से संघर्षरत स्त्री-पुरुष दृष्टिगत होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रेमचंदयुगीन कथा-संसार के समसामयिक परिवेश में विविधताओं भरे जीवन का जीवंत चित्रण स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

प्रेमचंद के निधन के कुछ महीने पूर्व अप्रैल, 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हिंदी साहित्य में हो चुकी थी, जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता स्वयं प्रेमचंद ने की थी। अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में प्रेमचंद ने साहित्य के लिए परिवर्तित कसौटी की मांग करते हुए सामाजिक संदर्भों में हिंदी साहित्य की भूमिका को रेखांकित किया था। इससे यह स्पष्ट है कि सन 1936 ई. में प्रेमचंद के निधन के पूर्व ही हिंदी कहानी में घटित परिवर्तन की आहट सुनाई देने लगी थी।

बीसवीं शताब्दी का तीसरा दशक स्वाधीनता आंदोलन के अभूतपूर्व उभार का समय है। इसी कारण प्रेमचंद कृत 'कर्मभूमि' को प्रख्यात समालोचक रामविलास शर्मा ने 'स्वाधीनता आंदोलन के प्रसार का उपन्यास' कहकर उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। वर्तमान समय में सरदार भगत

सिंह और उनके क्रांतिकारी साथियों के उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलने की सुविधा है कि ये लोग अपने आत्म-संघर्ष द्वारा कैसे निष्ठावादी मार्क्सवादी बने। यह सुविधा तत्कालीन हिंदी कहानी में स्पष्टतः दृष्टिगत नहीं होती, जिससे ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों के कारण स्पष्ट परिलक्षित नहीं होते। इसके बावजूद तद्रूपी हिंदी कहानीकारों की कहानियों के पात्रों के मनोवैज्ञानिक दृष्टिबोध को नकार पाना आसान नहीं है। मनोवैज्ञानिक भाव-बोध के हिंदी कहानीकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि कहानीकार- जैनेन्द्र कुमार, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', यशपाल, इलाचंद्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अशक, विष्णु प्रभाकर, अमृतलाल नागर, अमृतराय, रंगेय राघव और भैरव प्रसाद गुप्त का नाम लिया जा सकता है। इस समयावधि में लिखी गयी हिंदी कहानियों, जिन्हें 'व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक कहानी' कहा गया, के प्रमुख रचनाकारों- जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय ने अपने समय-संदर्भों के प्रभाव को रेखांकित करने वाली अनेक कहानियां लिखीं। इसी प्रकार यशपाल ने घोषित रूप से मार्क्सवादी रचनाकार होने के बावजूद व्यक्तिगत मनोभावों को केंद्र में रखकर कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियां लिखीं। चूंकि यशपाल का लक्ष्य साहित्य के माध्यम से एक शोषण-रहित समतामूलक समाज की स्थापना था, इसलिए उन्होंने भारतीय समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति पर अपनी रचनाधर्मिता को विशेष रूप से केंद्रित किया। इस समय का हिंदी कहानीकार किसी कवि के समान ही जीवन को उसकी संश्लिष्टता और जटिलता में पकड़ पाने और आकार देने के लिए आकुल दिखाई पड़ता है। वह यथार्थ जीवन से जुड़कर अपनी रचना को आकार देना चाहता है। इस समय का हिंदी कहानीकार मिथ्या आदर्शों और नैतिकताओं में विश्वास करना छोड़ता दृष्टिगत होता है, क्योंकि वह उसके सतत शून्य परिणामों से अवगत हो चुका था। इस समयावधि के अधिकांश हिंदी कहानीकार विचारों में यथार्थ के सम्मिश्रण के साथ कहानियों का सृजन करते परिलक्षित होते हैं। इस समयावधि के अधिकांश कहानीकार अपनी कहानियों में जीवन की यथार्थ वास्तविकता का तिरस्कार करके आगे बढ़ते दिखाई देते हैं। वह वास्तविक और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अवास्तविक और अमूर्त जीवन में गहरी अभिरुचि रखते हैं। इसी के परिणामस्वरूप वे धीरे-धीरे वास्तविक जीवन से दूर होते जाते हैं।

साहित्य में अमूर्तन और फैंटेसी की दुनिया भी वास्तविक और यथार्थ हो सकती है, उसके क्रांतिकारी राजनीतिक संदर्भ भी हो सकते हैं। इसे समझने के लिए ईरान में खुमैनी के समय में लिखी गयी समद बदरंगी की कहानियों को देखना चाहिए। 'नयी कहानी' के रचनाकार प्रेमचंदोत्तर कहानीकारों द्वारा अपनाई जाने वाली विचार और यथार्थ के सम्मिश्रण की उपर्युक्त सत्ता में विचार को एक ऐसे पठार की तरह देखते हैं, जो लेखक और वास्तविक जीवन के मध्य अवरोध पैदा करता है। जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचंद से अलग स्त्री-पुरुष का जो क्षेत्र अपने कहानी-संसार के लिए चयन किया, उसके कारण वह आरंभ से ही विवादास्पद कहानीकार माने जाते रहे। जैनेन्द्र कुमार ने प्रेम में उत्सर्ग की भावना को कम करके, जयशंकर प्रसाद और चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' से अलग, कहानी को सामान्य जीवन के नजदीक लाने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में जैनेन्द्र कुमार को प्रेमचंद से जितना अलग और विरोधी कहानीकार माना जाता है, वस्तुतः वह उतने अलग और विरोधी कहानीकार नहीं हैं। उनके द्वारा रचित प्रेम कहानियां- 'मास्टरजी', 'धुंधरू', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'जाह्नवी', 'दृष्टि दोष', 'ब्याह' और 'भाभी' इत्यादि भी प्रेमचंद की तरह ही परिवार के प्रति हार्दिक

चिन्ता और निष्ठा को ही केंद्र में रखकर चलती हैं। प्रेम और सामाजिक चिन्ता का तनाव अमूर्त रहने के कारण ही जैनेन्द्र की ये कहानियां रहस्यवादी-सी प्रतीत होती हैं। इनकी कहानियों की नायिकाएं हाड़-मांस की वास्तविक स्त्रियां नहीं हैं। प्रेम में से देह की सत्ता और उसकी जैविक वास्तविकता को अलग करके जैनेन्द्र प्रेम को एक अशरीरी और अवास्तविक भाव-सत्ता में मिश्रित कर देते हैं। परवर्ती हिंदी कहानियों- 'गदल', 'परिदे', 'नीली झील', 'तीसरी कसम', 'कोसी का घटवार' और 'मित्रों मरजानी' आदि की नायिकाओं से तुलना करके इस अंतर को समझा जा सकता है। प्रेमचंद की तरह जैनेन्द्र कुमार अंत तक अपनी रचनात्मक तेजस्विता को बनाए रखने वाले लेखक का उदाहरण नहीं बन सके। अज्ञेय ने जैनेन्द्र कुमार के व्यक्तित्व को नैसर्गिक नहीं, अर्जित व्यक्तित्व का उदाहरण माना है। उनकी कहानियों का शिल्प भी अज्ञेय के अनुसार इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। अज्ञेय मानते हैं कि जैनेन्द्र में अनिवार्यता एक सतही ऋजुता है और सतह के नीचे अनेक बारीकियों का उलझाव है।²

जीवन की सहजता स्वयं एक मूल्य है। हमारी सभ्यता ने हमारे ऊपर इतने कृत्रिम आवरण डाल रखे हैं कि हम मनुष्य की तरह जिंदगी न जीकर यंत्र की तरह जीते हैं। हमारे पाप-पुण्य दोनों बहुत बनावटी हो गए हैं। किसी तथ्य, व्यक्ति, वस्तु, स्थान अथवा परिवेश को सही समझकर भी हम उसे सही नहीं कह पाते। धीरे-धीरे बनावटी जीवन-मूल्यों और पद्धतियों के आवरण से हम स्वयं को ढंक लेते हैं। ऐसे परिवेश में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' की आधारभूमि में हिंदी कहानी के सशक्त हस्ताक्षर सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का प्रवेश होता है। अज्ञेय की आरंभिक कहानियों का संग्रह 'विपथगा' नाम से प्रकाशित हुआ तो अज्ञेय के ऊपर टिप्पणी करते हुए तत्कालीन ख्यातिलब्ध हिंदी साहित्यकार बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा- 'अपनी प्रत्येक कहानी में वह विद्यमान हैं एक ऐसे युवक के रूप में जिसमें उत्साह है, दृढ़ता है, आदर्श के लिए मर-मिटने की चाह है। जो हथेली पर जान रखकर उस पर प्रयोग करने में आनंद लेता है, पर जिसमें विवेक का अभाव है। जो बे-जान बुढ़े आदमियों को मयस्सर होता है, उस हिसाबीपन की कमी है जिस पर दुनियावी आदमी अभिमान किया करते हैं, और फूंक-फूंक कर कदम रखने की उस प्रवृत्ति का नामोनिशान नहीं जो हाथ-पैर बचाकर मूंजी को टरकाने वाले आदमी में पाई जाती है।'³ भाषिक संरचना की दृष्टि से अज्ञेय की कहानियों के अनेक स्तर हैं। वे यह नहीं मान पाते कि भाषा जनता की धाती है और जनता ही उसका मूल स्रोत है। क्रांति की पृष्ठभूमि वाली उनकी कहानियों की भाषा एकदम किताबी और भावुकता के उच्छल आवेग की भाषा है, जिसे पढ़कर कहीं-कहीं गद्यगीत पढ़ने का भ्रम भी हो सकता है। संकेतों, बिंबों और प्रतीकों का सहारा लेकर उन्होंने भाषा को एक भंगिमा प्रदान करने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उनका शब्द-चयन उसे एक आरोपित भाषा का उद्धरण सिद्ध करता है। अज्ञेय प्रायः इसे अभिजात मुद्रा और संस्कार के आवरण में छिपाने का प्रयत्न भी करते हैं। 'चिड़ियाघर' का गाइड और 'मेजर चौधरी की वापसी' का सेनाधिकारी जिस तरह की भाषा और शब्दों का प्रयोग करते हैं, वह उनके सम्पूर्ण अस्तित्व को कृत्रिम और अस्वाभाविक बना देता है। दुर्भाग्यवश ये उदाहरण अज्ञेय की काफी अच्छी और महत्वपूर्ण समझी जाने वाली कहानियों के हैं। अज्ञेय की अंतिम कहानी 'कलाकार की मुक्ति' सन 1954 ई. में प्रकाशित हुई थी। परवर्ती हिंदी कहानी उनकी अनुपस्थिति ही नहीं, उनके विरोध की भी साक्षी रही है। शायद उसकी जीवंतता और सक्रियता का

इतिहास ही अज्ञेय की असफलता और विवशता का संकेत है।

देश की स्वाधीनता एक विभाजन-रेखा है, जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर देती है। आरंभ में यह परिवर्तन बहुत स्पष्ट दिखाई नहीं देता, लेकिन धीरे-धीरे यह परिवर्तन स्वाधीन भारत में प्रसारित होता देख जा सकता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन दृष्टिकोण के अनुसार- 'यह झूठी आजादी थी, क्योंकि किसी भी स्तर पर इसमें कहीं कोई मौलिक और आधारभूत परिवर्तन नहीं।' यह सत्ता का हस्तांतरण मात्र था, और जिस पूंजीवादी-सामंती गठबंधन को सत्ता प्राप्त हुई थी, उससे हिंदी के पुरोधा कहानीकार प्रेमचंद की कहानी 'आहुति' की नायिका रूपमणि की बात सच होती दिखाई दे रही थी- 'गद्दी पर जॉन की जगह गोविंद बात गया था।' हिंदी कहानी-संसार में युग-यथार्थ नई परिस्थितियों, नई समस्याओं, नए संबंधों और नए विश्वासों के उद्घाटन के साथ किसी पात्र की विशिष्ट संवेदना अर्थात् तद्दुगीन परिस्थितियों में जीते हुए किसी पात्र के लिए हुए एक विशेष अनुभव को उभारने में भी है। किंतु सामान्यतः युग-यथार्थ से जो ध्वनि निकलती है, वह तद्दुगीन जीवन को घेरने वाली नवीन परिस्थितियों और उनसे बनने वाले नए संबंधों, समस्याओं, संघर्षों और भाव-बोधों का ही अर्थ व्यक्त करती है।

जिस समयावधि की कहानी को 'नयी कहानी' कहकर स्थापित किया गया, उसे सामान्यतः सन 1954 ई. से 1963 ई. की समय-सीमा में बांधा जा सकता है। नई कहानी के प्रमुख उल्लेखनीय कहानीकारों में- राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, शानी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्मू भंडारी का नाम लिया जा सकता है। 'नयी कहानी' यथार्थ और जीवन की वास्तविकताओं के अंकन के आधार पर स्वयं को अतीत की हिंदी कहानी से अलग स्थापित करती है। जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय का विरोध अमूर्तन और छद्म दार्शनिकता के कारण किया गया। राजेन्द्र यादव ने 'व्यक्ति' और 'समाज' की दो धाराओं को मिलाकर जीवन को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में प्रस्तुत किए जाने की बात कही। हिंदी की प्रारंभिक कहानियों में कोई 'विचार' या 'सत्य' कहानीकार के सामने कौंधता और वह कुछ पात्रों, स्थितियों और घटनाओं के संयोग-संयोजन से उसे उद्घाटित कर देता है। यही कारण था जिससे 'नयी कहानी' के परंपरागत और रूढ़ तत्त्वों के आधार पर कहानी का विरोध किया गया। नयी कहानी के प्रणेता कहानीकार राजेन्द्र यादव के अनुसार- 'कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अंतर्द्वंद्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाजों तथा अन्य आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना चाहता है। इसीलिए कहानी का कोई भी तत्त्व निमित्त या आलंबन बनकर नहीं स्वयं आश्रय या विषयवस्तु बनकर आता है।'⁴ इस समयावधि में सृजित हिंदी कहानियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट आभास होता है कि पुरानी कहानी से नयी कहानी को पृथक करते हुए 'नयी कहानी' के व्याख्याकारों का विशेष बल प्रामाणिकता और अनुभव के अपनेपन पर था। इसी को उन्होंने 'भोगा हुआ यथार्थ' कहा, और आगे चलकर यह एक तरह से 'नयी कहानी' की पारिभाषिक शब्दावली बन गयी। अपने कथ्य और संवेदना के धरातल पर 'नयी कहानी' परिवर्तन का आभास देती है। अपने समकालीन संदर्भों का दबाव नयी कहानी को अतीत से हटाकर वर्तमान पर केंद्रित करता है, और यह वर्तमान भी अनेक प्रकार की विसंगतियों और विद्रूपताओं से भरा है। शिक्षा और रोजगार के लिए

किया जाने वाला संघर्ष, बेरोजगारी से पैदा हुई हताशा और भ्रष्टाचार के प्रति समाज की बढ़ती उदासीनता तथा एक सीमा तक स्वीकृति इस समयावधि की कहानियों का मुख्य कथ्य है। घर-परिवार से दूर रहने पर युवतियों के लिए पुरुषों से संपर्क में आने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। यह संपर्क परिचय में, और परिचय आत्मीय-संबंधों में बदलता दिखाई देता है, परन्तु सामाजिक वर्जनाओं और निषेधों के कारण प्रायः ये संबंध सफल नहीं होते। आत्मीय प्रेम-संबंधों की असफलता से उत्पन्न हुई हताशा कृष्णा सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे' और उषा प्रियंवदा की कहानी 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में पर्याप्त विश्वसनीय रूप में उपस्थित है। पत्नी और प्रेमिका के बीच का तनाव राजेन्द्र यादव की कहानी 'कमजोर लड़की' का मूल कथ्य है। बेरोजगारी की हताशा और मोहभंग निर्मल वर्मा द्वारा इस समयावधि में लिखी गयी अधिकांश कहानियों में देखा जा सकता है। अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' प्रतीक्षा के हताशा में बदलने की प्रक्रिया को बेहद संवेदनशील ढंग से चित्रित करती है। सृजनशीलता के इस दौर में एक ओर घर-परिवार में परंपरागत रिश्तों पर पुनर्विचार और उन्हें पुनर्परिभाषित करने की प्रक्रिया आरंभ होती दिखाई पड़ती है, वहीं दूसरी ओर नूतन संवेदनशीलता से विकसित रिश्तों को महत्व दिया जाने लगता है। शिवप्रसाद सिंह की 'दादी मां', मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा' और भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' आदि हिंदी कहानियां वृद्ध पात्रों के माध्यम से अपनी परंपरा से जुड़ने का ही सकारात्मक परिणाम है। राजेन्द्र यादव की कहानी 'एक खुली हुई सांझ' और मोहन राकेश की कहानी 'अपरिचित' नई संवेदनशीलता के आधार पर नए रिश्तों के स्वरूप का संकेत देती हैं। 'परिंदे', 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम', 'कोसी का घटवार' और 'नीली झील' जैसी कहानियां प्रेम के प्रति अधिक लौकिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाती हैं। ये कहानियां प्रेम के उल्लास, अवसाद और उत्सवधर्मिता के विभिन्न रंगों और मनोदशाओं को गहरी संवेदना और विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत करती हैं।

'नयी कहानी' में प्रारंभ से ही ऐसे आत्मपरक और व्यक्तिवादी तत्त्व सक्रिय थे जो कहानी को उसकी पूरी परंपरा से पृथक करके 'नयी कहानी' को स्वतः स्फूर्त और स्वायत्त मानकर चल रहे थे। अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव से अजनबीयत और अ-लगाव की जो प्रवृत्तियां कहानी में घुसपैठ कर रही थीं, व्यक्ति को समाज से अलग करके एक स्वतंत्र इकाई के रूप में स्थापित किया जा रहा था, और 'नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' में भी संत्रास, हताशा और मृत्युबोध की बातें की जाने लगी थीं। सन 1964 ई. में जब 'सचेतन कहानी' के प्रवक्ता महीप सिंह ने सचेतन कहानी की अवधारणा को आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया तो उनका मुख्य जोर 'नयी कहानी' में सक्रिय इस आत्मपरता का विरोध ही था। 'सचेतन कहानी' के प्रमुख उल्लेखनीय कहानीकार- महीप सिंह, मनहर चौहान और कुलभूषण का नाम लिया जा सकता है। ये कहानीकार 'सचेतन कहानी' को, उसमें निहित दृष्टि को, सार्त्र के अस्तित्ववाद के सक्रिय और सकारात्मक पक्ष से जोड़ने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं। महीप सिंह सार्त्र की कृति 'अस्तित्ववाद और मानववाद' के माध्यम से मनुष्य के वरण की स्वतंत्रता के संदर्भ में उसकी प्रतिबद्धता और दायित्वबोध का उल्लेख करते हैं। वे सार्त्र के 'एंगिवश' शब्द को सचेतन दृष्टि की अवधारणा में जोड़ते हुए विरक्ति और निष्क्रियता के विरोध में सक्रियता और दायित्व से संबद्ध करते हुए सचेतन की अपनी व्याख्या को पर्याप्त आधुनिक बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। 'सचेतन कहानी' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा-

‘सचेतन एक दृष्टि है। वह दृष्टि जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। अपने संक्रांतिकाल में चाहे हमें जीवन अच्छा लगे या बुरा लगे, चाहे उसे घूंट-घूंट पीकर हमें तृप्ति प्राप्त हो, चाहे नीम के रस की तरह हमें उसे आंखें मूंदकर निगलना पड़े, परन्तु जीवन से हमारी संपृक्ति छूटती नहीं। कहुए घूंटों से घबड़ाकर जीवन से भाग खड़े होने की बात वैयक्तिक रूप में मानव इतिहास में अनेक बार दोहराई गयी है, और हर बार किसी न किसी प्रकार का दार्शनिक बौद्धिक आधार देकर उसके औचित्य की स्थापना का प्रयास किया गया है परन्तु मनुष्य की प्रवृत्ति जीवन से भागने की नहीं रही है। जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति है।’⁵ ‘सचेतन कहानी’ में रचना और अवधारणा दोनों स्तरों पर निषेध, विरोध और अस्वीकार की भूमिका का महत्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ‘नयी कहानी’ के कथित सूत्रधारों के प्रति महीप सिंह की नकारवादी दृष्टि उनके इस वक्तव्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है- ‘समय और सुविधा देखकर दर्शन की स्थापना का सबसे छिछला उदाहरण अभी हाल में ही देखने में आया है। एक लोकप्रिय कहानी-पत्रिका के लेखक-संपादक ने अपने एक लंबे संपादकीय में कापालिकों की तरह प्रेत जागते हुए ‘नयी कहानी’ का प्रगतिशील तत्त्वों के प्रति समर्पित होना लिखा है। साहित्यिक चर्चाओं में इतना बड़ा मजाक शायद ही कभी किया गया हो। जो लेखक सदैव ‘नयी कहानी’ की स्थापना ‘नए’ और ‘पुराने’ का सतही भेद दिखाकर करता रहा हो, और जिसके साथी लेखकों ने कहानी के नए संदर्भ खोजते हुए कविता और कहानी की भाव-भूमियों का अंतर ढूंढा हो या परिभाषा के नए सूत्र एकत्र करते हुए अपनी कहानियों में मानव-आत्मा के शिल्पी का पहली बार अपनी भूमिका के निर्वाह की गर्वोक्ति की हो, एकाएक ऐसा लेखक 120 पृष्ठ की पत्रिका के संपादक होने की सुविधा का लाभ उठाकर हवा के बहाव को देखते हुए झट से प्रगतिशीलता का जामा ओढ़ ले तो इसे घोर अवसरवादिता के अतिरिक्त और क्या कहा जाएगा।’⁶

‘सचेतन कहानी’, ‘नयी कहानी’ की उपेक्षा की प्रतिक्रिया थी तो ‘अ-कहानी’ ‘नयी कहानी’ में वैचारिकता के क्षरण और राजनीति के निषेध वाली दृष्टि का ही विकास थी। ‘अ-कहानी’ में साठोत्तरी कविता या अ-कविता के अनेक कवि- गंगाप्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया, जगदीश चतुर्वेदी और राजकमल चौधरी इत्यादि ही अधिक सक्रिय दिखाई देते हैं, और ये लोग ही ‘अ-कहानी’ का घोषणा-पत्र तैयार करने की पहल करते हैं। गंगाप्रसाद विमल ‘अ-कहानी’ को आंदोलन न मानकर एक दृष्टि मानते हैं, जो ‘कहानी’ विधा के स्वीकृत मान-मूल्यों के निषेध पर बल देते हुए कहते हैं- ‘अ-कहानी का संदर्भ इस दृष्टि से आंदोलन नहीं है, कोई मंच नहीं है, तथा कोई विशेषण भी नहीं है। मूल्यांकन की दृष्टि से कथा के रचना-विधान का पृथक्त्व स्पष्ट करने के लिए ही ‘अ-कहानी’ का नामांकन किया गया हो-यह भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। वस्तुतः अ-कहानी कथा के स्वीकृत आधारों का निषेध तथा किसी तरह के मूल्य-स्थापन का अस्वीकार है.....’⁷

कमलेश्वर ने आठवें दशक के आरंभ में ‘समांतर कहानी’ आंदोलन की शुरुआत की। ‘सारिका’ पत्रिका के पहले ही संपादकीय में कमलेश्वर ने क्रांति के लिए एकदम तैयार खड़े दुविधारहित आदमी की बात कही है, उन्हीं के शब्दों में- ‘इतिहास जब नंगा हो जाता है तो संपूर्ण संघर्ष के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता।’⁸ इसी संपादकीय में वे आगे लिखते हैं- ‘यह पूरा देश अब एक भयंकर दलदल बन चुका है और इसे दलदल बनाने वाले लोग प्राचीरों-परकोटों पर जाकर बैठ गए हैं और

दलदल में फंसते, दम तोड़ते आम आदमी के मरण का उत्सव मन रहे हैं।⁹ 'समांतर कहानी' के उल्लेखनीय कहानीकार- कमलेश्वर, से. रा. यात्री, मेहरुन्सिसा परवेज, जितेन्द्र भाटिया, इब्राहीमशरीफ, दामोदर सदन, स्वदेश दीपक, आलमशाह खान, निरुपमा सेवती और सुधा अरोड़ा माने जाते हैं। इन हिंदी कहानीकारों की कहानियों में एकांगी, अतिरेकी और अतिरंजनापूर्ण विकास में निहित जुलूस, भीड़ और दिशाहीन आंदोलनों की भरमार सी दिखाई पड़ती है। कथा-इतिहास के प्रख्यात विद्वान आलोचक मधुरेश के मतानुसार- 'युवा लेखकों की समझ को धुंधलाने का एक व्यापक षडयंत्र ही इस आंदोलन के अंतर्गत लिखी गयी अधिकतर कहानियों और उनका समाजशास्त्र निर्मित करने वाली उद्घोषणाओं में प्रतिफलित होता दिखाई देता है।'¹⁰

कहानी के संदर्भ में 'जनवादी कहानी' वस्तुतः प्रगतिशील कहानी का ही विस्तार है। इस विचारधारा के हिंदी कहानीकारों में- भीष्म साहनी, अमरकांत, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, सतीश जमाली, मधुकर सिंह, रमेश उपाध्याय और विजयकांत का नाम लिया जा सकता है। 'जनवादी कहानी' में वर्ग-संघर्ष और शोषण के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की चेतना, एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय पक्ष है लेकिन प्रायः इन कहानियों में वर्ग-संघर्ष बहुत ही इकहरे और स्थूल रूप में प्रस्तुत होता है जो कथ्य की विश्वसनीयता और रचनात्मक अन्विति को ही नष्ट करता दिखाई देता है। समूचे वामपंथी आंदोलन की सीमाएं भी इससे स्पष्ट होती हैं। रचनाकारों के अपने अंतर्विरोध। भी रचना को कैसे क्षतिग्रस्त करते हैं, इसे देखने के लिए भी 'जनवादी आंदोलन' के अंतर्गत लिखी गयी अनेक कहानियों को देखा जा सकता है।

जिस आग, संघर्ष, सच और अच्छाई का संघर्ष रचनाधर्मिता के माध्यम से लड़ा जाता है, उसे हमारे जीवन से ही ऊर्जा प्राप्त होती है। जीवन और रचनात्मक सृजन के मध्य आई दरार 'रचना' को नष्ट करने के साथ जीवन को भी नष्ट कर देती है। 'समकालीन' होने का अर्थ सिर्फ समय के साथ होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है- समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के मध्य अपनी सृजनशीलता द्वारा स्वयं के अस्तित्व को प्रमाणित करना। समकालीन रचनाकार की पहचान यही हो सकती है कि अपने समय के प्रश्नों के प्रति वह किस प्रकार प्रतिक्रिया करता है, और अपने लेखन में उन प्रश्नों के लिए जो स्थान वह निर्धारित करता है, उन प्रश्नों के प्रति वह स्वयं कितना गंभीर है। कहीं न कहीं इन सबसे ही उसकी समकालीनता सुनिश्चित होती है। इस विचारधारा से अभिप्रेरित प्रमुख कहानीकारों में- हृदयेश, शैलेश मटियानी, गिरिराज किशोर, गोविंद मिश्र, असगर वजाहत, स्वयं प्रकाश, कृष्णा अग्निहोत्री, सृजय, मिथिलेश्वर, महेंद्र भल्ला, उदय प्रकाश, हरि भटनागर, अखिलेश, शशांक, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, मृणाल पांडे, नासिरा शर्मा, राजी सेठ, सूर्यबाला, चंद्रकांता, महाश्वेता देवी, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी, अनामिका, गीतांजलिश्री, सारा राय और अल्पना मिश्र इत्यादि का नाम लिया जा सकता है।

कहानी आंदोलनों के संबंध में विविध विद्वानों का मानना है कि हिंदी साहित्य में कहानी संबंधी विविध आंदोलनों ने जहां रचनात्मक सक्रियता और ऊर्जा का वातावरण निर्मित किया, वहीं इस तथ्य के समर्थकों की भी कमी नहीं है कि इन छोटे-छोटे आंदोलनों और मुद्दों में बहकर हिंदी कहानी अपने मूल गंतव्य से भटक गयी। हिंदी कहानी उस यथार्थ का अंकन नहीं कर पा रही है, जिससे प्रतिबद्ध

होकर उसने अपनी विकास-यात्रा आरंभ की थी और जिसके लिए प्रेमचंद जैसे कहानीकारों ने अनथक संघर्ष करके उसे एक प्रौढ़ और परिपक्व स्वरूप प्रदान किया था। जो लोग इन आंदोलनों में सम्मिलित थे, वह अच्छी-बुरी कैसी भी कहानियां लिखकर कहानी-संबंधी चर्चा में बने रहे। बहुत से ऐसे कहानीकार भी थे जो किसी आंदोलन से जुड़े न होने पर भी सार्थक और महत्वपूर्ण लेखन करते रहे। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'हिंदी कहानी' की अंतर्यात्रा अपवादों को छोड़कर, विविध कहानी-आंदोलनों के साथ, हिंदी साहित्य को सर्वोद्भूत करने का महत्वपूर्ण कार्य करती रही है। हिंदी साहित्य की विकासयात्रा में हिंदी कहानीकार कभी सहज संवेदना, सहज मस्ती की ओर हमें ले जाकर कृत्रिम जीवन-मूल्यों से मुक्ति का एहसास कराता है, कभी इन सहज संवेदनाओं और मस्ती के ऊपर पर्त की पर्त बिछी हुई विवशताओं और चेतनाओं का विश्लेषण करके मूल संवेदनाओं की झलक दिखलाता है, और कभी यंत्र-युग की संक्रांत सभ्यता को उद्घाटित करता है। कुल मिलकर हिंदी कहानी तद्दुगीन जीवन की तीखी चेतना के रूप में परिलक्षित होती है।

संदर्भ :

1. हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान, रामदरश मिश्र, पृष्ठ-1
2. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, पृष्ठ- 42
3. अज्ञेय की संपूर्ण कहानियां (भाग-दो), पृष्ठ-415
4. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ-15
5. आधार (सचेतन कहानी विशेषांक), सं. महीप सिंह, सन 1964 ई., संपादकीय, पृष्ठ-12
6. आधार (सचेतन कहानी विशेषांक), सं. महीप सिंह, सन 1964 ई., संपादकीय, पृष्ठ-15
7. हिंदी कहानी : पहचान और परख, सं. इंद्रनाथ मदान, पृष्ठ-93
8. सारिका (प्रवेशांक), सं. कमलेश्वर, संपादकीय, पृष्ठ-09
9. सारिका (प्रवेशांक), सं. कमलेश्वर, संपादकीय, पृष्ठ-09
10. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, पृष्ठ-48

अंक के रचनाकार

- नंद किशोर आचार्य- सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-334005 (राज.), ☎ 9413381045
- कमल कुमार- डी-38, प्रेस इनक्लेव, साकेत, नई दिल्ली-110017, ☎ 9810093217
- नवनीत मिश्र- ई-4, सौभाग्य अपार्टमेंट्स 8, गोपाल नगर, लखनऊ-226003 (उ.प्र.), ☎ 94 50000094
- अरुण कुमार त्रिपाठी- डी-104, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.) ☎ 9818801766
- राजकुमार गौतम- बी-55, पाकेट-4, केंद्रीय विहार-2, सेक्टर-82, नोएडा-201304 (उ.प्र.), ☎ 9313636195
- प्रेम कुमार- कृष्णाधाम कालोनी, आगरा रोड, अलीगढ़-(उ.प्र.), ☎ 9412176047
- उर्मिला शुक्ल- ए-21, स्टील सिटी, अवंती विहार-रायपुर, (छग.), ☎ 09893294248
- स्वप्निल श्रीवास्तव- 510 अवधपुरी कालोनी, अमानीगंज, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.), ☎ 9415332326
- वंदना शुक्ल- ए-3, श्रीजी सोसाइटी, निकट आशीर्वाद, वैरसिया रिंग रोड, वड़ोदरा-390006 (गुज.), ☎ 7043992542
- सतीश जायसवाल- वृहस्पति चौक, विलासपुर- (छग.), ☎ 9425219932
- कुमार मुकुल- राजस्थान पत्रिका, संपादकीय विभाग, केशरगढ़, जवाहर लाल नेहरू मार्ग, जयपुर-302004 (राज.), ☎ 8769942898
- कुमार विक्रम- संपादक- नेशनल बुक ट्रस्ट, 5- इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेस-2 वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070, ☎ 9871145755
- निशांत- द्वारा मेडिसिन सेंटर, पो.- बुदबुद, जिला- बर्दवान-713403 (प.बं.), ☎ 9239612662
- विजय शर्मा- 5वां तल, 326, न्यू सीताराम डेरा, एग्रीको, जमशेदपुर-831009 (झारखंड), ☎ 09955054271
- अप्रमेय मिश्र- सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा-442001 (महा.), ☎ 8308590068
- ज्योति चावला- अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, न्यू अकादमिक ब्लॉक, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068 ☎ 9871819666
- हरदीप सिंह- 34-पोस्ट ऑफिस स्ट्रीट, दोराहा मंडी, जिला-लुधियाना-141421 (पंजाब), ☎ 9417717910
- गरिमा श्रीवास्तव- प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, ☎ 8985708041
- पल्लव- संपादक-बनास जन, 343-डीडीए, ब्लॉक सी एंड डी, शालीमार बाग, दिल्ली-110088, ☎ 8130072004
- एम.श्याम राव- एसोशिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, गच्ची बावली, हैदराबाद-500046 (आं.प्र.), ☎ 9492923364
- उषा शर्मा- पो. बजरडीहा, वाराणसी-221009 (उ.प्र.)
- बृजेन्द्र कुमार अग्निहोत्री- असिस्टेंट प्रोफेसर (अतिथि), हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, 5 मील, तादोंग, गंगटोक, सिक्किम-793001, ☎ 9918695656

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

‘बहुवचन’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 300/- व्यक्तिगत
	रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘बहुवचन’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 600/- व्यक्तिगत
	रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 120/- व्यक्तिगत
	रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 240/- व्यक्तिगत
	रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क	रु. 420/- व्यक्तिगत
	रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट ‘महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा’ के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

फोन नं. : 07152-232943

‘बहुवचन/पुस्तक-वार्ता’ पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये
का बैंक ड्राफ्ट संख्या दिनांक संलग्न
कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम :

पता :

पिन कोड :

दूरभाष : ई-मेल :

दिनांक :

(सदस्य के हस्ताक्षर)